प्रमाण अद्यापि रहा है। आनन्दपुर से सात-आठ मील की दूरी पर पोडार शिगि स्थान मे जैन मूर्तिया आज भी प्राप्त होती है।

जैन धर्म अहिंसा का धम है, बउला चरित मे इसी अहिंसा का महात्म्य वर्णित हुआ है।

महायोग वृक्षरे अहिंसा तहिं शाखा,
विवेक कुसुम मुक्तिफल देइ देखा।
त्रिविध तापरे जे तापित सर्व प्राणी,
यज्ञ तरुवरकु अहिंसा कला जाणी।

और भी लिखा है—

पुणि से ससार दु खे, नुहइ दु खित।
परम निर्बाण पाइ हुअइ निश्चित ॥

कथ्य

अग, वग, कलिग, कौशल—ये प्रदेश लम्बे समय तक जैन धर्म के प्रभाव-क्षेत्र रहे हैं। सम्राट् खारवेल ने कलिग मे जैन धर्म को वहुत प्रभावी वनाया। उन्होने आगम-वाचना की आयोजना भी की। विदेश की परिकल्पना को छोड दें तो जैन परम्परा मे सम्राट् खारवेल का वही स्थान है जो वौद्ध परम्परा मे सम्राट् अशोक का है। विद्वान् लेखक ने इतिहास के सन्दर्भ मे कलिग मे जैन धर्म के प्रभाव की परिस्थितियो का उडिया भाषा मे विशद विवेचन किया है।

मुनि शुभकरण जी आचार्य तुलसी के उन शिष्यो मे हैं, जिनकी आत्म-साधना और विद्याराधना—दोनो मे समान रुचि है। उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक का उडिया से हिन्दी मे अनुवाद कर हिन्दी पाठको के सम्मुख पठनीय सामग्री प्रस्तुत की है। अनुवाद मे मौलिकता का अनुभव उसकी सफलता का अभिज्ञान है। मुझे विश्वास है कि प्रादेशिक दृष्टिकोण से लिखे गए 'जैन धर्म' शीर्षक ग्रन्थो मे प्रस्तुत ग्रथ एक महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

—मुनि नथमल

अणुव्रत-भवन
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-१

दो शब्द

उडीसा आज से अढाई-तीन हजार वर्ष पूर्व जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। मैं इस विषय से अनभिज्ञ था। मैं मानता हू आज भी मेरे-जैसे लाखो जैन इससे अविज्ञात होगे। 'उडीसा मे जैन धर्म' पुस्तक को पढने से यह सत्य ज्ञात हुआ। मूल पुस्तक उडिया भाषा मे है। उडीसा मे भी इसका प्रचार-प्रसार जिस स्तर पर होना चाहिए, वैसा नही हुआ ऐसा लगता है। तव हिन्दी जगत् के पाठको के सन्निकट इसके पहुचने की आशा कैसे की जा सकती है?

आज से लगभग छ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी के आदेश से हमने (मैं, मुनिश्री सगीतकुमार जी और मुनिश्री विमलकुमार जी) हरियाणा से उडीसा की ओर प्रस्थान किया। १९६६ का चातुर्मास हमने रायपुर किया और ६७ मे जगदलपुर से उडीसा की सीमा मे प्रवेश किया। जन-सम्पर्क से ऐसी प्रतीति होने लगी कि प्रान्तीय भाषा के विना स्थानीय जनता के साथ घुला-मिला नही जा सकता। भाषा जन-सम्पर्क का सरल और सहज माध्यम है। उसके बिना कार्यक्रम में व्यापकता नही आ सकती और न वहा जाने का ही कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध हो सकता है।

धीरे-धीरे मैं उसके अभ्यास मे सलग्न हो गया। किन्तु सर्कल तदनुकूल नही होने से विशेष गति नहीं हो सकी। पश्चिम उडीसा 'टिटीलागढ' चातुर्मास सम्पन्न कर कुछ समय पश्चात् हमने भुवनेश्वर, कटक की ओर जाने का निश्चय किया। हम मध्यम मार्ग से भुवनेश्वर पहुचे। मार्गवर्ती छोटे-छोटे गावो ने भी हमे स्थानीय भाषा में भाषण आदि करने के लिए विशेष

जागरूक बना दिया । मैं कुछ-कुछ पढने लगा और लोगो के विचारो को समझने लगा। कटक मे 'ओडिसा रे जैन धर्म' नामक पुस्तक देखने सुनने और पढने को मिली। इसे पढकर यह अनुभव हुआ कि एक युग मे उडीसा जैन धर्म और जैन श्रमणो के परिव्रजन का महान् केन्द्र था। इसके भूरि-भूरि प्रमाण आज भी यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। उदयगिरि और खण्डगिरि की खण्डहर गुफाए प्रचुर सामग्री हमारी आखो के सामने प्रस्तुत करती हैं। जैन समाज ने इस ओर यथेष्ट परिमाण मे ध्यान नही दिया। राष्ट्रभाषा मे अनूदित कर इसे साधारण जन-समाज तक पहुचाने की प्रेरणा मेरे अन्त करण मे प्रस्फुटित हुई। मैंने कार्य प्रारम्भ किया।

उडीसा-प्रवासकाल मे यह कार्य प्रारम्भ होता तो कुछ कठिनाइया सरल हो जाती। किन्तु प्रमादवश वैसा नही हो सका। इस बीच आचार्यश्री तुलसी ने भी उडीसा की प्राकृतिक और पवित्र भूमि के स्पर्शन का कार्यक्रम बनाया। वे समय वहा आए। असख्य नागरिक उनके दर्शन और श्रवण से कृतकृत्य हो गए। किन्तु उनका उडीसा मे अल्पकालीन प्रवास हुआ। जैन केन्द्र-स्थलो मे वे नही पहुच सके। हम स्वय भी उन प्रमुख-प्रमुख अनेक क्षेत्रो मे वचित रह गए, जो जैन धर्म की प्राचीनता को आज भी मुखरित कर रहे हैं, जहा विपुल मात्रा मे जैन अवशेष बिखरे पडे है।

अनुवाद के कार्य और उडिया भाषा मे मैं अभी शिशु हू। इनकी गहराई मे प्रवेश करने का सुअवसर मुझे प्राप्त नही हुआ। भाषा और अनुवाद पर जैसा अधिकार होना चाहिए वैसा मेरे मे नही है, यह मैं अनुभव करता हू।

बौने व्यक्ति के लिए उन्नत फलो की प्राप्ति का आयास हास्यास्पद है। वैसा ही यह मेरा प्रयास है। किन्तु मैं प्रसन्न हू इसलिए कि इसमे मेरा ज्ञान सवर्धित हुआ है। इसके लेखक डॉ० लक्ष्मीनारायण साहू हैं जिनकी विद्वत्ता असदिग्ध है। लेखक का जन्म जैन परम्परा मे नही हुआ इसलिए उन पर वैदिक प्रभाव का होना असगत नही है। यत्र-तत्र इसकी छाया इसमे मिलती है। किन्तु कही-कही वे इसे भी स्वीकार करते है कि हिन्दू धर्म ने जैन धर्म से कल्पवृक्ष, मागलिक चिह्न, ध्यानासन आदि ग्रहण किए हैं। ऋषभ और शिव की एकात्मकता का भी वे प्रतिपादन करते हैं।

अनेक स्थल चर्चनीय हैं। यह निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन है कि कौन किससे अर्वाचीन है। यह विषय शोध-सापेक्ष है, किन्तु एक बात बहुत स्पष्ट है कि लेखक अपने विषय 'उडीसा मे जैन धर्म' मे बहुत सफल हुए हैं। इतिहासविदो के लिए इसमे अनेक तथ्य हैं। जैन इतिहास का विस्मृत अध्याय इससे पुन प्रकाश मे आयेगा, मेरा ऐसा विश्वास है।

अन्त मे मैं अपने सहयोगी सन्तो का कृतज्ञ हू जिन्होने मुझे उपरितन अनेक कार्यों से सर्वथा मुक्त रखा। मुनिश्री दुलहराज जी अनुवाद के प्रेरणा-स्रोत हैं। कृतज्ञता की सीमा से वे कैसे अतिक्रान्त हो सकते हैं? दीक्षा-पर्याय मे लघु होकर भी वय और विचारो से वे मेरे से बहुत आगे हैं।

आचार्यश्री तुलसी और पथद्रष्टा मुनिश्री नथमल जी के प्रति कुछ कहना केवल शाब्दिक कृतज्ञता होगी। शब्दो की दुनिया मे विहरण न कर, मैं केवल इतना ही कह सकता हू कि मेरी गति मे वे आलोक-शिखा हैं।

—मुनि शुभकरण

वि० २०३० दीपावली
इन्दौर

भूमिका

पद्मश्री लक्ष्मीनारायण साहू ने इस वृद्धावस्था मे पूर्वापर सगति सहित जैन धर्म के सम्बन्ध मे यह ग्रथ लिखा है। इसे विश्वविद्यालय को देकर वे डॉक्टरेट पाना चाहते हैं। जैन धर्म के सबध मे, खासकर उडीसा के जैन धर्म के सम्बन्ध मे ऐसा दूसरा कोई ग्रन्थ मेरी दृष्टि मे नही आया। उडीसा मे अब तक के धर्मों मे जिस प्रकार जैन धर्म का स्थान रहता आया है उसका उन्होंने ऐतिहासिक परम्परा और सामाजिक विश्वास, अनुष्ठान आदि दूसरे तत्त्वो से बहुत श्रमपूर्वक सग्रह और विवेचन किया है। बीच-बीच में प्रसगोपात्त उन्होने ऐतिहासिक खोज के नये तथ्यो का भी सादर निर्देश किया है, इसलिए यह बहुत उपादेय बन गया है।

गवेषणा के प्रकार

वस्तुत उडीसा तथा भारत के ऐतिहासिक स्थानो के सम्बन्ध में सत्य या निश्चित रूप से अनेक बातें कही नही जा सकती। किन्तु आलोचना के लिए नई खोजो के सिद्धान्तो को साधारणतया प्रकाश मे लाना उचित है। उदाहरण के तौर पर खारवेल का समय-निर्धारण और जगन्नाथ मन्दिर में प्राप्त ताडपत्रीय प्रति में उल्लिखित रक्तबाहु उपाख्यान के आधार पर डॉक्टर नवीनकुमार साहू द्वारा आविष्कृत मुरुड वशीय राजाओ के शासन की झलक और आलोचना लक्ष्मीनारायण बाबू ने की है, वह एकान्तत स्पृहणीय है।

उनमे से कुछेक बातो की आलोचना

ऐतिहासिक उडीसा में उन्होने जैन धर्म की परम्परा को प्रकट करने का बहुत प्रयत्न किया है। खारवेल के शिलालेख में 'तिविमसत' का तीन सौ वर्ष के रूप में अर्थ कर पृथ्वी को क्षत्रीय-रहित करने वाले मगध को 'नन्दराज' तथा उनके समय में उत्तर और उत्तर-पूर्व भारत के मगध निवासी जो जैन थे और कलिंगवासियो के सहधर्मी थे, अनुमान के आधार पर इस विषय की उन्होने विशेष आलोचना की है। साथ-साथ, मथुरा निवासी भी खारवेल युग मे जैन धर्मानुयायी थे, अनुमान द्वारा इसे प्रमाणित किया है। खारवेल के शिलालेखो मे यह स्पष्ट न होने पर भी खारवेल मगध, अग देश से धन-रत्न आदि लूटकर अपने यहा लाये थे इसे सत्य प्रमाणित करने का प्रयास किया है। लक्ष्मीनारायण बाबू का यह प्रयास सामान्य नही है। इस प्रकार के सिद्धान्त और तथ्यो को दृष्टि मे रख आलोचना करने के लिए बैठे तो एक विराट् ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है। पडित लक्ष्मीनारायण ने भी बहुत उपयुक्त सहायता पाकर अनेक ग्रन्थो का पारायण कर और ग्रन्थो के विषयाशो के प्रति ध्यान देकर आलोचना-विवेचना करने का परिचय दिया है। वह और कही हो या नही, किन्तु उडीसा मे असामान्य है।

इस ग्रन्थ की भूमिका मुझे लिखनी है

ग्रन्थ बहुत विशाल है जिसमे अनेक विषयाश आलोच्य हैं, विचारणीय हैं, चिन्तनीय हैं और विचारो की बलिष्ठता भी लिये हुए हैं जिसके लिए उन्होने सात वर्ष तक श्रम किया है। दिन मे अवकाश की बात तो दूर, रोगशय्या पर रहकर भी शात भाव से लम्बी रात्रिया व्यतीत की हैं, उस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए मुझसे कहा है।

मेरी अपनी असुविधा

मैंने बहुत दिनो से प्रत्यक्ष रूप से इन सब क्षेत्रो मे एक प्रकार से आलोचना करने की प्रवृत्ति छोड-सी दी है। ग्रन्थ पढने का शारीरिक श्रम

भी मेरे लिए अव वैसा सभव नही है, तथापि इस सवध मे मेरे परिपक्व जीवन मे जो वास्तविक विचार उत्पन्न हुए हैं, उन्हे मैं सक्षेप मे लिख रहा हू ।

भूमिका

लक्ष्मीनारायण वावू ने जैन धर्म के सवध मे जो कुछ लिखा है वह समग्र अत्यन्त उपोदय होने पर भी उन्होंने जैन धर्म के सवध मे जो विचार और आलोचना की है उससे जैन धर्म सवधी समस्त बातें ठीक ज्ञात नही हो सकती। केवल उडीसा राज्य या भारत मे ही क्यो, प्राचीन सभ्य मानव समाज मे जैन धर्म की प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि वहुत थी। उसके सकेत और उदाहरण आज भी मिलते हैं। भारत मे इस धर्म की प्रतिष्ठा, प्रभाव और प्रसिद्धि आज भी समस्त प्रचलित धर्मों मे वहुत प्रतिष्ठित और प्रचलित है। वास्तव मे यह प्रतिष्ठा नाना कारणों से पहले आखो के सामने नही आ सकी अथवा क्रिश्चियन धर्म या इस्लाम धम आदि के प्रचार की तरह इसका वैसा प्रचार नही हो सका।

आज भी जैन नाम से एक धर्म भारत में है

विश्व मे और कही जैन धर्म इस समय एक स्वतन्त्र धर्म के रूप मे नही है, यह वात सत्य है किन्तु भारत मे आज भी है। वर्तमान भारत मे जैन धर्म नाम से जो धर्म है वह भी फिर वहुत अशो मे आदान-प्रदान के कारण दूसरे धर्मों की तरह हो गया है। इसलिए उसमे भी जैन धर्म का स्वरूप लक्ष्मीनारायण वावू ने जैसा कहा है, वैसा स्पष्ट देखना सरल नही है। तथापि भारत मे आज भी जैन धर्म चिरस्थायी होकर रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। विशेपकर उडीसा मे प्राचीन कलिंग युग से इस धर्म ने मुख्य रूप से अपना प्रभाव विस्तृत करके रखा था। उसके उदाहरण अनेक हैं। आज भी उसके सकेत जगन्नाथ में खोजे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वौद्ध धर्म नाम से जो धम है, वह भी जैन धर्म मे आज से प्राय २५०० वर्ष के आसपास निकला था। इस सवध में विशेप आलोचना करने की अपेक्षा है। क्योकि इसे समझने में आज तक पाश्चात्य तथा भारतीय प्राच्य पुरातत्त्व-वेताओ मे वहुत भ्रम रहा हुआ है। खारवेल आदि के सवध में भी

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि वे और उनका धर्म और उनके हजारो वर्षों के बाद का धर्म जैन नाम से कथित होने पर भी वह विशुद्ध जैन धर्म नही हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है, उस समय बौद्ध धर्म के प्रभाव से वह काफी प्रभावित हो गया था। उडीसा मे जैन धर्म नाम से एक धर्म प्रमुख रूप से चल रहा था, लेकिन सभवत वह बौद्ध धर्म के हीनयान के साथ एक हो गया था। ह्वेनसाग के समय के विवरण से और बुद्धदत्त की सिहल परम्परा से यह ज्ञात होता है।

ह्वेनसाग के समय का विवरण

ह्वेनसाग के समय बौद्ध धर्म से चीनी तथा तद्विद् विद्वान् लोग महायान को ही बौद्ध धर्म समझते थे। पूर्व भारत का वज्रयान सभवत उस समय सर्वत्र फैल चुका था। इसलिए बौद्ध धर्म से निग्रहानुग्रह समर्थ भगवान बुद्ध का धर्म अथवा शून्यवादी घोर वामाचारियो का आचार समझते थे। उस समय जो वास्तविक और मौलिक बौद्ध धर्म था वह हीनयान बौद्ध धर्म में मिश्रित हो गया था। प्राचीन जैनो मे से सभवत अनेक हीनयान बौद्ध रूप मे जाने जा रहे थे। लगता है, उडीसा के तत्कालीन हीनयानी, जिन्हे अपने धर्म का स्पष्टीकरण देने के लिए हर्षवर्धन के साथ लडना पडा था, वे और कोई नही, जैन थे।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

बहुत दुख की बात है कि उन्नीसवी शताब्दी के यूरोपीय पुरातत्व विद्वान् इस बात को बहुत भ्रान्त समझकर भारत के लिए तथा समग्र विश्व के लिए एक गलत परम्परा का निर्माण कर गये हैं। यह बराबर सुनने में आता है कि पूर्व भारत में बुद्ध नाम का एक व्यक्ति वैदिक यागयज्ञ और जाति-भेद के विरोध में जनता के सामने आया था। इस सबध में आलोचना का मार्ग भी उसी ढग से खुला था। इस सबध में उस समय लोग यही जान रहे थे कि जैन धर्म भी उसी बौद्ध धर्म से निकला है। जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी और अनेक दूसरे विद्वान इस धारणा का निरसन करने में सफल हुए। उन्होने कहा कि जैन धर्म पहले से था तथापि बौद्ध

धर्म की तरह यह धर्म भी वैदिक धर्म का विरोधी था, किन्तु यह धारणा नितान्त भूल-भरी हुई है। पडित लक्ष्मीनारायण ने भी पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में विचार करते समय और पार्श्वनाथ की साधना के प्रति सकेत कर उसकी आलोचना करते समय जैन धर्म की प्राचीनता तथा परम्परा विषयक वहुत सूचनाए दी। वस्तुत जैन धर्म विश्व मे मूल अध्यात्म धर्म है। बौद्ध धर्म के आगमन के वहुत पहले से जैन धर्म इस देश मे था। वहुत सभव है यह प्राक् वैदिको और द्राविडो के भीतर था। वाद में इस धर्म ने साधना में एक ओर सभोगेच्छा का नाश करने के लिए कठोर साधना का मार्ग और दूसरी ओर उसी सभोग स्पृहा को ध्वस करने के लिए अतिसभोग में डूवकर-निरत होकर उसे छोडने का मार्ग निकाला था। शाक्यमुनि वुद्ध इन दोनो के मध्यमार्गी जैन धर्म के अन्तिम सस्कारक थे। वुद्ध ने स्वय कहा है कि वे होते हैं एक जिन।

शाक्यमुनि इतने महान् कैसे हुए ?

शाक्य मुनि की लोकप्रियता का कारण यह मध्यम मार्ग था। यह भी कहा जा सकता है कि उनके सस्कृत जैनत्व की छाप 'गीता' पर भी पडी है। गीता मे लिखा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दु खहा।[1]

"जो जितना आवश्यक है उतना ही भोजन करता है, विहार करता है, आवश्यक है उतना ही कर्म मे प्रेरित होता है, जितना आवश्यक है उतना ही सोता है और जागता है, योग उसी व्यक्ति का दु खहरण करता है।" इसमे जहा एक ओर कठोर साधना और कर्म मे अतिनिष्ठा का निषेध होता हैं तो दूसरी ओर भोग की यथेच्छाचारिता और अति स्वतन्त्रता का निषेध भी है। मुनि का यही जैन धर्म या वौद्ध धर्म है। महामहिम सम्राट् अशोक ने सिर्फ इसी वौद्ध धर्म के नाम से सस्कृत जैन धर्म को स्वीकार

---

१ गीता, अध्याय ६/१७

किया था। उन्होंने तत्कालीन समस्त मध्य जगत् मे एक दिन इसी धर्म का प्रचार कर अहिंसा का उद्घोष सुनाया था और उसका महत्त्व सामने रखा था। अत बौद्ध धर्म का नाम प्रबल हो उठा। लेकिन ई० प्रथम शताब्दी के पहले से इस अध्यात्म-आत्मोपासक सस्कृत जैन धर्म या बौद्ध धर्म मे भक्ति धर्म पूर्ण तथा प्रविष्ट हो गया था। उसी का नाम महायान है। इससे पहले जो बौद्ध धर्म था उसे हीनयान बौद्ध धर्म कहा गया है। महायान के पूर्व के जो जैन थे वे बहुतकर इसी हीनयान नाम से अभिहित हो रहे थे।

उसका स्पष्ट उदाहरण पुरी का जगन्नाथ

जगन्नाथ जैन शब्द है। ऋषभनाथ के साथ इसकी समानता है। ऋषभनाथ का अर्थ है—सूर्यनाथ या जगत् का जीवन-रूपी पुरुष। ऋषभ-यानी सूर्य होता है। यह प्राचीन बैबीलोन का आविष्कार है। प्रो० सई ने अपनी Hibbert Lectures (1878) मे स्पष्ट कहा है कि इसी सूर्य को वासन्त विषुवत् मे देखने से लोगो ने समझा कि हल जोतने का समय हो गया है। वे वृषभ बैलो से हल जोतते थे। इसीलिए कहा जाता है कि वृषभ का समय हो गया है। आकाश मे वृषभ राशि के आरम्भ का वही स्थान है। इस दृष्टि से लोकभाषा मे सूर्य का नाम ऋषभ या वृषभ हो गया। उससे पूर्व 'सूर्य' जगत् का जीवन है यह धारणा लोगो मे बद्धमूल हो गई थी। अति प्राचीन वैदिक मन्त्र मे भी कहा है—'सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च।'[1] सूर्य जगत् का आत्मा या जीवन है। बैबीलोन के निकट जो तत्कालीन प्राचीन मिट्टानी राज्य था वहा से यह बात पीछे आयी थी। उस समय मिट्टानी राष्ट्र के राजा (ई० पू० चौदहवी शताब्दी) दशरथ थे। उनकी बहन और पुत्री दोनो का विवाह मिस्र सम्राट् के साथ हुआ था। उन्ही के प्रभाव मे प्रभावित होकर चतुर्थ आमान हेटप् या आकनेटन् ने आटेन (आत्मान्) नाम से इस सूर्य धर्म का प्रचार किया था। और यह 'सूर्य या जगत् का आत्मा ही परम पुरुष या पुरुषोत्तम है' ऐसा प्रचार कर एक प्रकार से धर्म

---

१ ऋग्वेद १-११५-१

मे पागल होकर समस्त साम्राज्य को भी शत पर लगाने का इतिहास मे प्रमाण है। वहुत सभव है कि कलिग मे द्राविडो के भीतर से ये जगन्नाथ प्रकट हुए हो। मिस्रीय पुरुषोत्तम तथा पुरी के पुरुषोत्तम ये दोनो इसी जैन धर्म के परिणाम हैं।

दाठावश (दन्त का इतिहास)

सिंहल मे 'दाठावश' नाम का एक प्राचीन ग्रथ है। यह पुरी मे रहे हुए वुद्ध दात का इतिहास है। इसमे लिखा है कि वुद्ध की चिता भस्म से सगृहीत वाए तरफ की दाढ के पास के दात को शिष्यो ने क्षेम के हाथो कलिग राजा ब्रह्मदत्त के पास भिजवा दिया था। वौद्ध साहित्य मे ब्रह्मदत्त का नाम साधारण राजा के रूप मे मिलता है। उम समय वाराणसी आदि देशो मे भी राजाओ के नाम ब्रह्मदत्त थे। फिर क्या कारण है कि वुद्ध की चिता भस्म से सगृहीत किये गए स्मारको मे इस वाए दाढ के पास के दात के सम्वन्ध मे कोई वात उत्तर भारत तथा चीन आदि देशो मे नही है। सिंहल मे इस सम्वन्ध की एक विराट् परम्परा है। 'दाठावश' मे लिखा है कि ब्रह्मदत्त ने इस दात की प्रतिष्ठा वहुत आदर के साथ कलिग मे की थी। उत्तर भारत या मगध राजा पाडु ने इस पर वडे प्रयत्नपूर्वक अधिकार किया था। किन्तु दात की अद्‌भुत शक्ति के कारण वे उसे ध्वस करने मे अक्षम रहे और अन्त मे इसके भक्त वन गए। इसी वीच क्षीरधर नाम के राजा ने इसके लिए पाडु राजा पर आक्रमण किया था। वे युद्ध मे मारे गये। अन्त मे राज्य त्यागकर भिक्षु होने के समय स्वय पाडु राजा ने कलिग राजा गुहशिव के हाथो पुन कलिग मे भिजवा दिया था। गुहशिव स्वय भी इस दात के लिए क्षीरधर के भतीजे द्वारा दन्तपुर मे वन्दी हो गये थे। उज्जयिनी के राजकुमार ने आकर कलिग राजा की पुत्री हेममाला के साथ विवाह कर लिया। गुहशिव ने उन दोनो को दात का भार सौंप दिया। इसलिए इन दोनो का नाम दन्तकुमार और दन्तकुमारी पड गया। दात को लेकर दोनो जहाज मे वैठ सिंहल चले गये। गणना की दृष्टि से यह दात ई० ३११ मे सिंहल पहुचा था। सिंहल मे प्राप्त एक शिलालेख से भी यह ज्ञात होता है।

उसके वाद भी इस दात का वहुत बडा इतिहास रहा है। ऐतिहासिक दष्टि से यह दात अनेक स्थानो मे गया है। कलिग से सिहल, सिहल से ब्रह्मदेश, उसके पश्चात् रोमन कैथोलिक मिशनरियो के हाथो मे और वहा से गोआ मे, मिशनरियो द्वारा कठोर वस्तु पर टुकडे कर इसे ध्वस कर समुद्र मे फेंक दिया गया। किन्तु फिर भी व्यक्ति कहते हैं कि असली दात को हमने छिपाकर रखा है। जहा जाता है वहा कृत्रिम दात जाता है और जो ले जाते हैं वे भी सदा केवल कृत्रिम दात को, असली को नही। इसलिए लोगो का आज भी विश्वास है कि असली दात कलिग या पुरी मे विद्यमान है। यह जगन्नाथ के पेट मे ब्रह्म रूप मे है। वस्तुत वर्तमान पुरी जगन्नाथ के चार प्रकार हैं—सुदर्शन को छोड देने पर भी जगन्नाथ, वडे ठाकुर और सुभद्रा इन तीन मूर्तियो के पेट मे दात तीन भागो मे विभक्त होकर ब्रह्म रूप मे रहा है। अथवा उसका क्या हुआ है ? निश्चय रूप से इस सम्वन्ध मे कोई कुछ नही कहते। खैर, जो कुछ भी हो किन्तु इस वात से इतना पता चलता है कि दक्षिण भारत मे इस सिहल दात की गल्प सभवत एक समय बुद्ध दात की वात नही थी। कलिग मे जैनो के जिस 'जिनासन' का उल्लेख हाथीगुफा शिलालेख मे हुआ है उसी का यह बौद्ध सस्करण रूप है। जगन्नाथ परम्परा मूलत सपूर्ण जैन है। नाथ शब्द भी पूर्णतया जैन उदाहरण है। सस्कृत मे नाथ शब्द का अर्थ है—जिनसे याचना की जाती है। सभवत सवसे पहले 'उपास्य' आत्मा रूपी पुरुष इसी अर्थ मे यह प्रयुक्त था। उत्तरवर्ती काल मे क्रमश भक्ति धर्म के सहयोग से इसका यह अर्थ स्वीकृत हो गया।

जैन धर्म अध्यात्म धर्म है

जैन धर्म के सवध मे जानने से पहले धर्म के सवध मे समझना आवश्यक है। विश्व मे धर्म के दो प्रकार हैं—भक्ति धर्म और अध्यात्म धर्म। भक्ति धर्म एक प्रकार से मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। लोग पहले अधिक शक्तिशाली व्यक्तियो की भक्ति करते थे। इसी से धीरे-धीरे साम्राज्य का अस्तित्व प्रकाश मे आया। क्रमश राजा और सम्राटो के अत्याचार वढने लगे जिससे 'एकेश्वरवाद' का एक सम्मानित संस्कार

धीरे-धीरे प्रकाश मे आया। इसे लेकर विश्व मे जो विवाद, द्वन्द्व और नर-हत्याओ की सृष्टि हुई है, उसे प्रकट करने से आज सिर्फ धर्म-ध्वजी मनुष्यो की मतान्धता और असहिष्णुता का परिचय मिलेगा, इसलिए यहा उसे देने की आवश्यकता नही है, यह अनुमानगम्य है। इसी तरह एक दिन असुर देश के असुर देव का उद्भव हो गया था। एक ओर वे होते हैं अत्याचार के प्रतीक और दूसरी ओर एकेश्वरवाद के प्रतीक। लोग पैदा कर असुरो के सम्राट असुर देव को 'कर' के रूप मे प्राय सब कुछ दे देते थे। न देने पर उनके साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। यथा—नारी और बच्चो को यथेच्छ काटकर, मारकर फेंक देते थे और प्रमुख व्यक्तियो की जीवित दशा मे चमडी उतार लेते थे।

जो उनके विरोध मे बातें करते थे उनके पीछे जासूस लगाकर उन्हे पकडकर लाया जाता था और उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करते थे। असुर देश के निकट बैबीलोन के प्रधान देव मर्दुक थे। असुरो के इस अत्याचार को वे भी सहन नही करते थे और सभ्यतर तथा सयत असुर भी उनके आचरण से सतुष्ट नही थे। इन दोनो का आपस में बहुत लम्बे समय तक भयकर विवाद चलता रहा। बाद मे एक पारसी मिहृस आर्य जराथ्रुष्ट ने (हलदिया औट) कहा, असुर और मर्दुक दो ईश्वर नही हैं। ईश्वर होते हैं एक। वे हैं—असुर मर्दुक या अहुरमेज्दा। अहुरमेज्दा का यह एकेश्वरवाद परसिया से लेकर भूमध्यसागर तक २०० वर्षो से अधिक समय मे फैल गया था। जिउ या यहूदी इस राज्य मे आकर बन्दी हो गये थे। कुछ समय के बाद उन्हे मुक्त कर दिया गया था। उनका जातीय देवता था 'जिउहे'। यहूदी स्वय अपने देवता को प्रिय कहकर बहुत अभिमान करते थे। अपने को बडा देव-भक्त मानते थे। बाद मे अहुरमेज्दा को अपने देवता 'जिहोवा' के अन्तर्गत मान लिया और कहा—ईश्वर विश्व का एक है। इसी से ईशुख्रीष्ट, मुहम्मद और उससे आगे चल कर पुत्र, दूत और अवतार आदि प्रकाश मे आये थे। परिणामस्वरूप विश्व मे आज धर्म की मतान्धता और प्रतिक्रिया फैल रही है।

इस धर्म की प्रतिक्रिया

इस प्रकार के अत्याचारो के विरोध मे लोगो का सिर उठाना और

आत्मत्याग करना अस्वाभाविक नही था। लोगो ने सोचा—सभोग-स्पृहा या तृष्णा का त्याग कर देने पर ऐसे राजा-सम्राटो की अधीनता के त्रास से मुक्ति मिल जायेगी। इस विचारधारा के विद्रोही व्यक्ति जन-समाज को छोडकर, तृष्णा त्यागकर वन मे चले गये। वहा स्रोतो का पानी पीकर, फल-फूल खाकर पशु-पक्षियो के साथ आराम से रहने लगे। उनकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला यह प्राचीन श्लोक है—

स्वच्छन्द-वन-जातेन, शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे, क कुर्यात् पातक महत्॥

स्वतन्न वन मे उत्पन्न होने वाले फल-भाजी के द्वारा यदि पेट की ज्वाला शात हो सकती है तो उसके लिए इतने वडे पाप की क्या आवश्यकता है? उदर-पूर्ति से यहा अभिप्राय है भोग या वासना की पूर्ति। ऐसे ही लोक आत्मस्थ या अपने भीतर जो आत्मा—पुरुप है उसकी उपासना करने लगे। इसलिए इनका धर्म अध्यात्म धर्म कहलाया। यह अध्यात्म धर्म ही जैन धर्म है। इसी जैन धर्म के सबध मे प्रसिद्ध जैन विद्वान् जगमन्दरलाल ने कहा है—"जैन धर्म ने मनुष्य को पूर्ण स्वातत्र्य दिया है। यह दूसरे किसी धर्म मे नही है। हम जो कर्म करते है और उस कर्म का जो फल मिलता है, इन दोनो के वीच मे कोई तीसरी चीज नही है। एक वार कर्म कर लेने पर वे कर्म ही हमारे नियन्ता वनते हैं। उनका फल निश्चित रूप से मिलता है। मेरी स्वतन्त्रता जिस प्रकार मूल्यवान है उसी प्रकार मेरा दायित्व भी उसके साथ समान 'मूल्यवान है। मैं जैसा चाहू वैसा ही जीवन-यापन कर सकता हू। किन्तु एक वार पथ का चुनाव कर लेने पर फिर परिवर्तन करने का उपाय नही है। मैंने जो कर्म किये हैं उनको फिर मैं अन्यथा नही कर सकता। यही नीति जैन धर्म को दूसरे धर्मों—क्रिश्चियन धर्म, मुसलमान धर्म और हिन्दू धर्म से पृथक् करती है। कोई ईश्वर या उसका अवतार अथवा स्थलाभिपिक्त तथा प्रिय (पुत्र या पैगम्वर) मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप नही कर सकता। आत्मा जो कुछ करता है उसके लिए केवल वही निश्चित रूप से उत्तरदायी है।

Jainism more than any other creed gives absolute religious independence and freedom to man Nothing can intervene between the actions which we do and the fruits there of once done, thev became our masters and must fructify As my independence is great, so my responsibility is co-extensive with it I can live as I like, but my choice is irrevocable and I cannot escape the consequences of it This principal distinguishes Jainism from other religions e g Christianity, Mohammedanism, Hinduism No Go d or his prophet or deputy or beloved can interfere with human life The soul and it alone is directly and necessarily responsible for all that it does [1]

इयावाणी और ऋष्यशृ ग

वैबीलोन के प्राचीन इरेक राज्य का इयावाणी और भारतीय अग देश के ऋष्यशृ ग का उपाख्यान इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है। इन दोनो ही उपाख्यानो मे विद्रोह का जो मूल है वह जैनत्व की ओर सकेत करता है। तृष्णा, त्याग और इद्रिय-सयम के द्वारा इनकी दैवी, आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति प्रकट हुई थी। यह बात इन उपाख्यानो से स्पष्ट होती है। ये दोनो वन मे थे। फल-फूल आदि खाते थे, झरनो का पानी पीते थे और पशु-पक्षियो के साथ रहते थे। स्थानीय राजाओ ने इन्हे शहर मे लाने के लिए सुन्दरी को भेजा। उसके प्रलोभन से ये साधनाच्युत हो गये। उनके साथ शहर मे आए, ऐसा गल्प मे वर्णन है। दोनो ने असाध्य कार्य किये थे। भारतीय ऋष्यशृग उपाख्यान इयावाणी (कुछ-कुछ इसे एकिडो पढ़ते हैं) गल्प के साथ समान होने पर भी ऋष्यशृग गल्प प्राचीन परम्परागत है, किन्तु इयावाणी गल्प का उल्लेख बहुत प्राचीन लेखो से मिलता है। गणना की दृष्टि से यह आज से लगभग पाच हजार वर्ष अधिक समय पूर्व की बात है। यह तत्कालीन सुमेर देश के इरेक राज्य की घटना है।

---

१ Outlines of Jainism by Jagmandarlal Jain, pp 3-4

थेर पुत्र

शाक्यमुनि बुद्ध के धम मे—बौद्ध धर्म मे 'सघ' मर्वोच्च था। इन सघो मे ठीक जैन माघको की तरह लोग सघवद्ध होकर सघ मे समाज रूप से रहते थे और जन-सेवा करते थे। औपध-व्यवहार और वितरण का कार्य लोक-सेवा के ये दो मुख्य आधार थे। इम मघ के माधक और सिद्धो को थेर या स्थविर कहा जाना था। थेर या थेर पुत्र का अर्थ है—स्थविर या साधु। थेर पुत्र शब्द बौद्ध है। साधु शब्द जैन है। उडीसा का साधव शब्द इसी से निकला है। बौद्ध धर्म के प्रचार के पश्चात् ये माधु भी धीरे-धीरे देश-विदेशो मे थेर पुत्र के नाम से परिचित हो गये थे। ई० पू० दूसरी या तीमरी शताब्दी के ममय मिस्र मे इन थेर पुत्रो ने मघवद्ध होकर वहुत उदारतापूर्वक जन-सेवा मे योगदान दिया था। इमके अनेक प्रमाण हैं। इनका प्रधान कार्य था यत्र-तत्र उपस्थित होकर रोगियो की सेवा करना। अग्रेजी मे Therapeutics (थेराप्युटिक्म) जिसका अर्थ है—भैपज्य विद्या, यह शब्द प्राकृत 'थेरपुत्रक' शब्द से आया है। इस वात को यहा ध्यान मे रखना चाहिए कि यह ग्रीक शब्द है, और उस ममय मिस्र से आया था।

एसीन्स

थेर पुत्रो की तरह लोक दल वद्ध होकर ईशु खीष्ट के जन्म मे पूर्व भी पालेस्टाइन के जीओ के भीतर एसीन्स नाम के दल थे। ये भी ठीक उन्ही की तरह थे। किन्तु इनके सम्वन्ध मे एक विशेप उल्लेखनीय वात है, वह यह कि ये लोग एक साथ मिलकर खेती करते थे। किसी की कोई निर्दिष्ट सम्पत्ति नही थी। मवका समान विभाग था। यह एक निश्चित जैन विधि है। धर्म के भोजवशीय राजाओ ने वहुत समय के वाद भी १५९० ई० से इम नीति का अवलम्वन लिया है। पुरी के आदेश-पत्रो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। गाव की सयुक्त व्यवस्था मे देवोत्तर आदि क्षेत्रो मे उसी सविभाग का सकेत आज भी उपलब्ध है। गाव की सयुक्त व्यवस्था मे वडे-छोटे का कोई विचार नही था। मवका समान विभाग था। सकलित धन-राशि का वटवारा करते समय भी मवको ममान विभाग मिलता था। इम विभाग मे मव समान थे न किमी को कम और न किसी को अधिक।

एसीन्स लोग दूसरी वार विवाहित होकर गृहस्थाश्रम नही करते थे। पूर्णतया उनके सन्यासी होने के प्रमाण मिलते हैं। सिर्फ वश-परम्परा को रखने के लिए नये शिष्यो को स्वीकार कर दल-वृद्धि करते थे। ये और मिस्रीय थेर पुत्र निरामिष-भोजी थे। यह निरामिष भोजन वैदिक नही है, और किसी दूसरे धर्म का कार्य भी नहीं है। तृष्णा-त्याग की साधना के द्वारा इसका उद्‌भव हुआ था, इसमे सदेह नही।

पाइथागोरियन्स

निरामिष भोजन की परम्परा प्राचीन ग्रीस के पाइथागोरियन्स (ई० पू० सातवी शताब्दी के अत मे) और अरफिको (ई० पू० सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे) मे प्रचलित थी। एक वात यह भी ज्ञात होती है कि इनमे यह विचार भी था कि 'आत्मा अमर है'। कर्म के कारण आत्मा का पुनजन्म होता है। ये विचार जैन धर्म के सिवाय और किसी के नही हैं। आगे चलकर सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि मनीषी और विद्वान् इसी पाइथागोरियन्स और अरफिक धर्म के वशधर हुए हैं। और उसे आगे वढाने मे इनका श्रेय है। विशेष जानने की वात यह है कि सुकरात और प्लेटो ने आत्मा के सम्वन्ध मे अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया है। किन्तु अरस्तू ने जो कुछ कहा है उसके दर्शन पर साख्य के प्रकृति, पुरुष तथा जैनो के जीव-अजीव की स्पष्ट छाया पडी है। ई० पू० द्वितीय शताब्दी मे इसी धर्म से ग्रीस के दूसरे स्टोइक और एपिक्यूरियन धर्म निकले थे। स्टोइक होता है जैन साधक और तपस्वी और एपिक्यूरियन इससे विलकुल उल्टा था। उसका आधार वास्तविकता थी।

ये सव जैन धर्म के परिणाम हैं

जैन धर्म के समस्त सकेतो पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस धर्म का प्रयास वैवीलोन मे लेकर यूरोप तक वहुत अधिक विस्तृत हुआ था। ग्रीक जीवन का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वह मूलत दूसरे ही प्रकार का था। इसका निर्माण भिन्न आधार पर हुआ था। इसमे योग की प्रधानता थी। योग लालसा और कामना पूर्णतया व्याप्त थी।

मनीषी पाइथागोरस का जन्म सातवी शताब्दी मे हुआ था। वे होते है एक जैन साधक और जैन सन्यासी। उस देश और इस देश का सम्पर्क सूत्र केवल इयावाणी और ऋष्यश्रृग के उपाख्यान से अनुमानित होता है, इतना ही नही है। बहुत पहले से बैबीलोन कापाडोसिया आदि (आजकल का इराक, तुरुष्क) पश्चिम देश और भारत के द्राविड दोनो का परस्पर मे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनुमान होता है, दोनो एक ही जाति के लोग थे।

देवी धर्म

देवी धर्म उसका मुख्य प्रमाण है। मा, बोउ, अम्मा और दूसरे मातृ-वाचक शब्द द्राविड मे व्यवहृत होते हैं। उडीसा मे आज भी 'मा' को 'बोउ' कहते हैं। बहुत बाद मे फिर मा शब्द सस्कृत मे लक्ष्मीवाचक भी बन गया। यह सस्कृत शब्द मातृ शब्द के साथ समान नही है। 'बोउ' शब्द उडीसा के सिवाय आसाम मे भी आज प्रचलित है। किन्तु मातृदेवी के अर्थ मे ये शब्द उस समय (ई० पू० प्राय तीन हजार वर्ष के समय) समस्त पश्चिमी राज्यो मे बहुत साधारण थे। क्रीट द्वीप से भी सिंहवाहिनी दुर्गा की पत्थर मे खोदी हुई मूर्ति अभी निकली है।

उमा

मातृदेवी के साथ शिव का आविर्भाव हुआ था। उसकी व्याख्या बहुत स्वाभाविक और सहजगम्य है। महायोनि और महालिंग विश्व-प्रजनन उत्पत्ति के प्रतीक होते हैं। पश्चिमी जगत् मे उस समय इसी भावना से मातृदेवी की पूजा होती थी। भारत मे ई० पू० दो हजार वर्ष के बाद लिंग-उपासना के प्रचलित होने का प्रमाण मोहनजोदाडो से मिलता है किन्तु यह लिंग इस देश मे दर्शन का प्रतीक था। मातृदेवी ने भी 'उमा' नाम से हैमवती देवी के रूप मे देवताओ को ब्रह्मविद्या का प्रशिक्षण दिया था, जिसका उल्लेख केनोपनिपद् के तृतीय खड मे है। लगता है, अम्मा नाम इसी उमा शब्द मे परिणत हो गया था, और हैमवती अर्थात् 'हिमालय कन्या' या हिमालय से प्रकटित होने वाली 'देवी' हो गई।

सेमिरामिस

इसी मातृदेवी के सम्पर्क से ई० पू० प्राय १५०० से २००० हजार वर्ष पूर्व बैबीलोन के उत्तर मे सटा हुआ अमुर देश था, उसकी रानी सेमिरामिस थी। उसका उपाख्यान बडा अद्भुत है। देवी की प्रजनन परायणता और तद्विध क्रिया से यह पूर्ण है। लगता है यह कोई साधारण स्मृति पर से फूटकर आने वाला एक पुराण है। कुछ भी हो, उसमे कहा है कि देवी ने एक कन्या को जन्म देकर उसे वन मे फेंक वह चली गयी। अनेक कपोत पक्षियो ने आकर उसकी सुरक्षा की और उसे जीवित रखा। एक चरवाहे ने उसे देखा और उठाकर अपने घर ले गया, उसका पालन-पोषण किया।

वह बहुत सुन्दरी और बुद्धिमती थी। गल्प मे कहा है कि बैबीलोन मे इस्तरदेवी की तरह वह भी केवल एक के बाद दूसरे एक से विवाह करती और उसे मारकर फिर दूसरे को स्वीकार कर लेती। इस सम्बन्ध मे वहा की परम्परा आज भी इतनी पुष्ट और प्रतिष्ठित है कि लोग उस क्षेत्र मे बडे-बडे पहाडो को दिखाकर कहते हैं कि यहा पर सेमिरामिस के पति गाडे हुए हैं। इसके अतिरिक्त सेमिरामिस महापराक्रमशालिनी थी। कहना है कि वह भारत को जीतने के लिए पजाब मे आयी थी। एकमात्र उसकी हार वही हुई। वह पराजित होकर वापस गयी थी।

शकुन्तला

शकुन्तला देवी या स्ववेंश्या द्वारा परित्यक्त सद्योजात सतान थी। वन मे पक्षियो ने उसे सुरक्षित रखा था। कण्व ऋषि उस बच्ची को अपने आश्रम मे ले गए और उसका पालन-पोषण किया था। बाद मे वही लडकी राजा दुष्यन्त (जो अनेक स्त्रियो से परिवृत थे) को देखकर काम-विह्वल हो गई थी। दुष्यन्त के सामने उसने आत्म-समर्पण किया था। फलस्वरूप वह गर्भिणी हो गई थी। सेमिरामिस की घटना के साथ इन सबकी बहुत आलोचना की जा सकती है। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी भारतीय उपाख्यान मे सतीत्व के आदर्श को प्रस्फुटित किया गया है, प्रभेद सिर्फ इतना ही है।अन्यथा शकुन्तला के पुत्र प्रबल प्रतापी सम्राट् 'भरत' के नाम

से इस देश का नाम भारतवर्ष पडना सभव नही था ।

द्राविड से रोम तक सब एक था

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्राविड से लेकर ग्रीस-रोम तक समस्त क्षेत्र प्राचीन काल मे एक समय मिला-जुला एक समान था। इनके आदान-प्रदान मे कोई अन्तराय या अवरोध नही था। जैन धर्म ने इन सब स्थानो मे प्राकृत धर्म को प्रभावित कर मानव जगत् को योग-सयम का पाठ पढाया था। हूल साहब स्पष्ट कहते हैं कि द्राविडो का सम्बन्ध केवल वैबीलोन आदि देशो के साथ था, यही बात नही है। द्राविड लोगो ने अपना उपनिवेश प्राचीन सुमेर राज्य मे जाकर किया था। इसके सिवाय दूसरे विद्वानो का भी कहना है कि जिन लोगो ने सुमेर मे उपनिवेश बनाया था, वे आये थे कश्मीर की उत्तर पामीर पहाडी मैदान (पठार) के पश्चिम मे स्थित प्रदेश से। चैकोस्लाविया की प्राग् नगरी के अध्यापक पूर्वीय पुरातत्त्ववेत्ता होजनी साहब ने 'Ancient History of Western Asia, India and Crete' नामक बहुत उपादेय और गवेषणापूर्ण एक ग्रन्थ लिखा है। उसमे उन्होंने सिद्ध किया है कि हिन्दू यूरोपीय कैस्पियन झील के पश्चिम तट मे चलकर यूरोप, एशिया के अनेक स्थानो मे व्याप्त होने के बहुत पहले से दूसरी एक सभ्य जाति इसी कैस्पियन झील के दक्षिण तट से चलकर इधर भारत, उधर वैबीलोन आदि प्रदेशो मे फैली थी। इनका सम्पर्क और आदान-प्रदान उस समय बडा घनिष्ठ था।

वर्तमान जाना जाता है कि मातृदेवी धर्म या शक्ति धर्म की तरह प्राचीन जैन धर्म मूल अध्यात्म धर्म होने पर भी उन (मातृदेवी धर्म आदि) के काय विशेषो मे यही जैन आदर्श और साधना मार्ग प्राग् वैदिक भारत मे अर्थात् उसी सभ्य जाति द्राविडो के भीतर से आकर विश्व मे प्रसारित हुआ था। लक्ष्मीनारायण बाबू ने यह दिखलाया है कि उडीसा तथा भारत के आचार-व्यवहार जैन धर्म के आचार-व्यवहार मे पूर्ण प्रभावित रहे हैं। खासकर इस विषय मे उन्होने तात्विक दृष्टि मे विचार करते हुए जैन हरिवश से नारद और पवत का उपाख्यान दिया है।

उपरिचर वसु

यह उपाख्यान एक बहुत सार्वजनिक उपाख्यान है। नारद और पर्वत के बीच यज्ञ मे व्यवहार किये जाने वाले 'अज' को लेकर विवाद छिडा था। पर्वत ने कहा—'अज' शब्द का अर्थ बकरा या पशु है, इसलिए पशुवध करना अविधेय नही है। नारद ने कहा—यह ठीक नही है। 'अज' का अर्थ पुराना धान्य है, जिससे फिर उत्पन्न नही होता है। हिंसा-अहिंसामूलक, आमिष और निरामिष भोजन का प्रभेद यही से विश्रुत होता है। निरामिष भोजन करना धर्म है या सामिष भोजन करना, इस बात को भारत मे समझाने की आवश्यकता नही है। भारत मे आमिषभोजी थे, किन्तु फिर भी निरामिष भोजन सबके लिए पवित्र और धर्म-सम्मत माना गया है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान मे राजा उपरिचर वसु की घटना है। देवता और ऋषियो के बीच झगडा हो गया था। देवताओ ने कहा—'अज' का अर्थ है बकरा। ऋषियो ने कहा—नही, 'अज' का अर्थ है पुराना शस्य—अनाज। उपरिचर वसु (जिसे आकाश मे चलने की शक्ति प्राप्त थी) उस मार्ग से जा रहे थे। दोनों पक्षो ने उन्हें मध्यस्थ स्वीकार कर लिया। उन्होंने पहले पूछ लिया था कि किसका क्या मत है ? इसके पश्चात् पशु-वध को सही ठहरा दिया। ऋषियो ने उपरिचर वसु के इस स्पष्ट पक्षपातपूर्ण व्यवहार को देखकर उसे श्राप दे दिया। अभिशप्त दशा मे नारायणीय धर्म या ऐकान्तिक धर्म की उपासना कर शापमुक्त हुए। इस तरह यह जाना जाता है कि यह ऐकान्तिक धर्म—परसिया का धर्म बहुत सभव है अहुरमेज्दा का धर्म हो। उपाख्यान मे इसका प्रमाण मिलता है। वस्तुत वही धर्म बाद मे उस ओर ख्रीष्ट धर्म और इस ओर वैष्णव धर्म के रूप मे प्रकट हुआ है। ख्रीष्ट धर्म के मूल मे जैन धर्म की कठोर साधना की भाति तपस्या और सयम है। उसका कारण थेराप्युटिक (Therapeutic) और पालेस्टाइन के तत्कालीन एसीन दल है किन्तु निरामिष भोजन की उपासना आरम्भ में स्थायी होकर नही रही थी। इधर का यह ऐकान्तिक धर्म होता है—वैष्णव धर्म या भक्ति धर्म। इस देश मे जैन धर्म के सिवाय आज भी वैष्णव लोग ही निरामिष भोजन के उपासक हैं। इस ओर अधिक स्पष्ट करने की अपेक्षा नही है। यह प्रभाव जैन धर्म का है। यहा केवल प्रतिपाद्य इतना ही है कि

वैष्णव धर्म जैसे धर्म या सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करने वाले धर्म जैन दर्शन पर प्रतिष्ठित नही हैं और हो भी नही सकते। फिर भी जैन धर्म के प्रभाव को देखने मे ये अत्यन्त उपादेय हैं। इस प्रकार विश्व के समस्त धर्म और मानवीय आत्मविकास के मूल मे जैन धर्म का हाथ है। मानव समाज के विकास की प्रतिष्ठा इसी पर आधारित है, ऐसा भी कहे तो अतिरेक नही है।

—नीलकण्ठदास

भुवनेश्वर
६ ६ ५८

मेरी अपनी बात

जीवन मे मुझे एक दार्शनिक होना चाहिए, मुझे बार-बार मेरे आचार्य हेमचन्द्र सरकार यह कहते थे।

यह उस समय की बात है जिस समय मैंने दो तीन एम० ए० पास कर ली थी। एक दिन अकस्मात् मुझे उस बात की स्मृति हो गई कि मेरे गुरुदेव के कथनानुसार मुझे दार्शनिक होना है। मैं क्यों नही बना ? तब मैंने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। दर्शन मे एम० ए० परीक्षा दी। यह ई० सन् १९३९ की बात है।

उस समय मैं जैन धर्म के विषय मे पढ रहा था। पढते-पढते एक पुस्तक मे देखा कि महावीर ने एक वस्त्र के सिवाय अपने शरीर पर और कुछ नही रखा। उन्होंने सब कुछ परित्याग कर दिया। मार्ग मे एक दिन नदी को पार कर जा रहे थे। झाडी मे उनका वह वस्त्र भी अटक गया और फट गया। आधा वस्त्र उसी मे रह गया।

उसी समय एक विपद्-ग्रस्त नारी को उन्होंने देखा जो अनेक जगहो से फटा-पुराना वस्त्र पहनकर भी अपनी लज्जा निवारित नही कर पा रही थी। उसने महावीर से वह वस्त्र मागा। महावीर ने सोचा, आधा वस्त्र झाडी मे रह गया है और आधा वस्त्र रखने से क्या फायदा है ? वह वस्त्र उन्होंने उस नारी को दे दिया और स्वय निर्वस्त्र हो गए।

इस घटना ने मुझे जैन धर्म के विषय मे जानकारी करने के लिए आकृष्ट कर दिया। उसी दिन से मेरे हृदय मे गुदगुदी पैदा हो गई। किन्तु मैं वैसा नही कर सका। इसी बीच मैं बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट हो गया। उसके सम्बन्ध मे मैंने शोध कर तीन-चार वर्ष तक अनेक निबन्ध लिखे थे और वे उडीसा मासिक पत्र 'उत्कल साहित्य' मे प्रकाशित हुए थे। उसके बाद फिर मैं महावीर के प्रति चिन्तन करने लगा। उडीसा सम्राट् खारवेल

जैन राजा थे। कलिंग मे जैन धर्म का बहुत अधिक बोलबाला था। वह क्यो और कैसे विलुप्त हुआ, इस तथ्य पर मैं विचार कर रहा था। इसी समय डॉ० नवीनकुमार साहू से मेरी भेंट हो गई। मैंने उनके सामने जैन धर्म की कोई चर्चा नही छेडी थी। उन्होने न जाने कैसे मेरे मन की बात जान ली और कहा—"आप जैन धर्म के सम्बन्ध मे डॉक्टरेट के लिए एक निबन्ध क्यो नही लिखते? आपने चार-चार एम० ए० कर ली है, इस विषय मे एक डॉक्टरेट करनी चाहिए।"

यह थीसिस उन्ही की प्रेरणा का फल है। यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण नही होगा कि इसके लिखने मे उन्होने मुझे हाथ मे छतरी लेकर चलाया है। मेरा विश्वास पौरुष और भाग्य दोनो पर है। इसलिए इसे भाग्य का सकेत समझकर मेरे अपने पौरुष से मैं कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो गया। यह थीसिस उसी का फल है। यह मैंने पी-एच० डी० के लिए लिखी थी।

इसे लिखने मे मुझे अनेक विद्वानो का सहयोग प्राप्त हुआ है। किन्तु सबके नामोल्लेख करने का यहा प्रयोजन नही है। मेरे गुरु डॉ० नवीनकुमार साहू अवस्था मे यथेष्ट तरुण होने पर भी विचार, बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र मे मेरे से बहुत अधिक आगे हैं। मै उनके सहयोग को भूल नही सकता।

इसके अतिरिक्त एक और व्यक्ति का नामोल्लेख करना चाहता हू। वे हैं श्री प्रबोधकुमार मिश्र। इस थीसिस के लिखने मे और कॉपीकरने मे उन्होने तन-मन से सहयोग दिया है। अध्यापक श्री दानाम्बर आचार्य, लाला नगेन्द्रकुमार राय और कटक जैन परिवार के श्री कुञ्ज-बिहारीलाल का भी अनेक प्रकार से सहयोग रहा है।

एक बात और कहने की मेरी इच्छा है, वह यह कि मैं आज आठ वर्षो से श्वास रोग से कष्ट पा रहा हू। रात को ठीक तरह से सो नही सकता। बहुत समय तक बैठे रहने के लिए बाध्य होना होता है। उसी श्वास कष्ट को भूलने के लिए मैं बैठा-बैठा चिन्तन करता रहा और निबन्ध लिखता रहा। इस रोग ने भी मुझे इसमे सहायता दी है। दुखमय ससार मे मेरे लिए यही एक अमृत है।

—लक्ष्मीनारायण साहू

लेखक-परिचय

पडित लक्ष्मीनारायण साहू का परिचय देना आवश्यक नही है । उनसे सभी परिचित हैं । किन्तु फिर भी कुछ व्यक्ति चाहते है इसलिए सक्षेप मे उनका परिचय दिया जाता है ।

उनका जन्म ई० सन् १८९० मे हुआ था । वे उन्नीसवी शताब्दी के व्यक्ति होते हैं और उनका कर्मक्षेत्र बीसवी शताब्दी है । उनका जन्म बालेश्वर के गुडिआ कुल मे हुआ । वह परिवार बहुत साधारण था । किन्तु उनके दादा गरीब नही थे । वे बहुत धनी थे । पितामह की आकस्मिक मृत्यु के बाद उनके पिता का घर-बार, जमीन, बगीचा, नाव का व्यवसाय आदि सब समाप्त हो गया । परिस्थिति के कारण लक्ष्मीनारायण बाबू प्राइमरी के अध्ययन तक स्वय दूकान पर बैठे, दोपहर का भोजन वही करते और व्यवसाय करते रहे । उसके पश्चात् वे बालेश्वर जिला स्कूल मे पढने गये । त्रैलोक्यनाथ घोष हैडमास्टर की सहायता से उन्हे वहा पढने मे सुविधा मिली । सन् १९०८ मे बालेश्वर जिला स्कूल से एन्ट्रेंस पास कर उन्होंने सस्कृत मे एक पदक भी प्राप्त किया था और छात्रवृत्ति भी पायी थी ।

वहा से उन्होंने रेवेन्सा कालेज मे प्रवेश किया । अनेक कठिनाइयों के बीच आई० एस० सी० पास कर वे कलकत्ता इजीनियरिंग कॉलेज मे पढने गए । अर्थाभाव के कारण वहा वे दो वर्ष से अधिक नही पढ सके । वापस लौट आए । वहा से पुरी मे विक्टोरिया होटल के मैनेजर रहे । उसके बाद कटक मिशन स्कूल मे चार वर्ष तक अध्यापन-कार्य किया । वहा

पर बी०ए०, सस्कृत मध्यमा आदि परीक्षाए पास की। गीता मे तत्त्वनिधि की और वगला साहित्य मे दक्षता के लिए 'विद्यारत्न' की उपाधि मिली थी।

मिशन स्कूल को छोडकर फिर वे तत्कालीन भारत सेवक समिति मे अपनी सेवा देने लगे। वर्तमान उसका नाम 'हिन्दी मेवक समाज' है। जीवन-पर्यन्त वे उस ममिति के सदस्य रहे। वचपन से ही सेवा की ओर उनका रुझान था।

उन्होने अपना जीवन वहुत निष्ठा के साथ हिन्दुत्व मे विताया था। गणेश, मरस्वती, दुर्गा, कार्तिक आदि सभी देवताओ की पूजा करते रहे। उसके वाद हठात् उनमे परिवर्तन आ गया। हरिजनो की वस्ती मे जाना, हरिजनो के कृशकाय वच्चो को अपने वच्चो के सदृश समझना, कटक मे सर्वप्रथम कुरान क्लव की स्थापना करना, मुसलमानो के साथ सम्मिलित होना, आर्यममाज मे हवन कराना इत्यादि सभी ओर की प्रवृत्तियो मे उनके यौवन का मप्रसारण रहा है। एक समय श्री लक्ष्मीनारायण वावू गुप्त क्रिश्चियन के रूप मे भी परिचित थे।

उनका एक रूप नही था। वे कवि, साहित्यिक, समाज-सेवक आदि थे। उनका पूर्ण परिचय देना कठिन है। इसलिए इतना ही कहा जाता है कि अपने जीवनकाल मे उन्होने अग्रेजी, उडिया, वगाली मे ९० पुस्तकें लिखी हैं, कुष्ठ रोगियो की मेवा की है, दुर्भिक्ष की स्थिति मे आसाम, विहार, वगाल और हिमाचल आदि प्रान्तो मे भी उन्होने महायता कार्य किया है।

अन्तिम जीवन मे राष्ट्रपति ने उनकी सेवाओ के फलस्वरूप 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदत्त कर उन्हे सम्मानित किया था। आध्र इतिहास-पुरातत्व समिति से 'भारती तीर्थ' और विश्व जैन मिशन से 'इतिहास-रत्न' आदि उपाधिया भी उन्हे प्राप्त हुई थी। उन्होने वैठे-वैठे ही अग्रेजी, भारतीय भापाओ, अर्थनीति तथा इतिहास मे एम०ए० पास की थी।

तैरने का उन्हे खूव शौक था। जीवन मे खूव तैरे हैं—महानदी, विरूपा, शिवापुर-खिदरपुर के निकट गगा के इस पार से उस पार, पुरी समुद्र के भीतर छह मील, इलाहावाद मे गगा-यमुना को पूरा पार किया

है। इसी प्रकार पैदल चलने मे भी वे पीछे नही रहे हैं। हिमालय पर दिन मे छब्बीस मील और समतल भूमि पर दिन मे चालीस-पचास मील चलने का कार्य भी उन्होंने किया है।

सबके साथ मिलकर श्री लक्ष्मीनारायण बाबू बहुत समय से एकाकीपन का अनुभव कैसे करते रहे, उस स्थिति मे उस समग्र दु ख को वे कविता लिखकर और उसकी आवृत्ति कर भूलते रहे। लक्ष्मीनारायण बाबू ने भारत के चारो ओर अनेक बार भ्रमण किया है। वे बर्मा भी गए थे। वे परिव्राजक लेखक और भावुक थे। उनके अनेक मित्र थे।

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

जैन धर्म का स्वरूप

भारतवर्ष मे प्राचीन युग के चिन्तनशील व्यक्तियो के विशाल दर्शन से उपलब्ध जो ज्ञानराशि है, वह वेद है। विभिन्न समयो में विभिन्न विपयों की उन्हें जो अनुभूति हुई थी, उसे मत्र और सूक्तो के रूप मे सगृहीत किया था। उत्तरवर्ती काल मे विपय-भेद से उसे विभक्त कर दिया था। दृश्यमान जगत की सृष्टि और स्थिति के मूल तत्त्व का निरूपण करते हुए अनेक मुनियो ने अनेक विचार प्रकट किये हैं। कालक्रम मे वे विचार ही भिन्न मत और भिन्न धर्म के रूप मे सामने आये हैं। ऋग्वेद के पचम मडल और दसवें सूक्त मे केशी और दिगम्बर का जो वर्णन है, उसकी जैनो के ऋपभ और हिन्दुओ के शिव के साथ समान रूप से तुलना की जा सकती है। वेद नानागति वाले हैं—भागवत मे उल्लिखित इस वाक्य की सार्थकता स्पष्ट तथा प्रमाणित होती है। जैन हरिवशपुराण मे नारद और पर्वत के बीच जो वेदार्थ को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ था, वह भी उपरोक्त वाक्य को पुष्ट करता है। नारद और पर्वत की सक्षिप्त कथा इस प्रकार है

'अजैर्यजत'—इस वैदिक वाक्य के अर्थ को लेकर एक वार आलोचना चल रही थी। पर्वत ने इसका अर्थ किया अज—यानी चतुष्पाद पशु विशेप, उसके द्वारा यज्ञ करना विधेय है। किन्तु नारद ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा—अज का अर्थ है जिससे कुछ उत्पन्न नही होता है,

ऐसा तीन वर्ष का पुराना धान्य। उसके द्वारा यज्ञ करने का विधान है। यह आलोचना इतने पर ही समाप्त नही हुई। किसी तीसरे व्यक्ति द्वारा इसका समाधान होना चाहिए, इसलिए दोनो किसी राजा के निकट गये। राजा की सभा मे अनेक तर्क-वितर्क के पश्चात् नारद का मत स्वीकृत हो गया। पराजित पर्वत वहा से किसी दूसरे राजा के आश्रित रहकर पशु-हिंसा द्वारा यज्ञ करना चाहिए, इसका प्रचार करने लगे। नारद अहिंसा के प्रचार मे लग गये। इस प्रकार एक ही वेद की हिंसा और अहिंसा के रूप मे दो शाखाए हो गयी। कालान्तर मे धीरे-धीरे दोनो ही प्रशाखा और पल्लवो के सभार से परिवर्द्धित होकर स्वतन्त्र वृक्ष के रूप मे परिणत हो गयी जिनको ब्राह्मण और जैन धर्म कहा गया। धीरे-धीरे दोनो धर्मों की आचार और उपासना प्रणाली भी स्वतन्त्र हो गयी। इस प्रकार कभी दोनो एक थे, आगे चलकर यह वात स्मृति से विलुप्त हो गयी।

गहराई से देखें तो ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म दोनो एक परिवार के अन्तर्गत हैं। जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीनतर है। बौद्ध ग्रन्थो मे लिखा है कि महावीर के शिष्यो ने अनेक बार बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने का विचार किया था। स्वय बुद्ध भी अनेक स्थलो पर निर्ग्रन्थ और आजीवक सम्प्रदाय के विरोध मे बोले थे। महावीर के निर्ग्रन्थ होने से पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था[1]। धर्म के क्रमिक विकाम की रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है—हिन्दू धर्म, जैन धर्म और उसके पश्चात् बौद्ध धर्म।

कुछ समय पहले अनेक व्यक्तियो की यह धारणा थी कि जैन धर्म बौद्धधर्म की शाखा है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन-तर है, इसमे कोई सन्देह नही है। महावीर जैन धर्म के चौबीसवे तीर्थंकर थे। वे बुद्ध के समसामयिक और बुद्ध की तरह राजवशीय थे। उन्होने एक मत्त हाथी को विना शस्त्र-बल के शान्त कर दिया था। इसमे लोग उन्हे 'महावीर' कहने लगे। वे इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध हो

---

१ P Sacred book of the Ind Dr Jacobi

गये।

महावीर ने उत्कल के कुछ भूभाग मे जैन धर्म का प्रचार किया था। उत्कल मे उनका प्रचार-केन्द्र कुमारी पर्वत—आधुनिक खडगिरि—था। उडीसा के महेन्द्र पर्वत पर आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का आश्रम था। महेन्द्र पर्वत वर्तमान मजूषा मे है। वह उडीसा मे न होकर आज आन्ध्र की सीमा मे है।

महावीर बुद्ध के समसामयिक थे, इसलिए कुछ विद्वान उन्हे बुद्ध-वशीय कहते हैं। यह बात सत्य और सही है कि उत्कल मे हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म—तीनो एक साथ प्रचलित थे।

महावीर सबसे पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ मे आये थे। वहा वे बयासी रात रहे थे। इन्द्र ने यह देखकर सोचा कि जितने तीर्थंकर हुए हैं, वे सब क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुए हैं। महावीर का जन्म भी वहीं होना चाहिए। उसने हरिणै गमैषी देव (जो गर्भ-परिवर्तन की कला मे कुशल था) को आदेश दिया कि महावीर को त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ मे और त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा के गर्भ मे परिवर्तित कर दिया जाए। हरिणै गमैषी ने तियासीवी रात्रि मे यह परिवर्तन कर दिया। महावीर जब गर्भ मे आये थे तब से कुल मे धन-धान्य आदि की अभिवृद्धि होने लगी। इसलिए उनका जन्म-नाम 'वर्धमान' रखा गया। सबको आशा थी कि राजपुत्र वर्धमान बडे होकर राज्य की समृद्धि मे योगदान देंगे। किन्तु उन्होने श्रमण बनने की अपनी भावना प्रकट की। राज वैभव त्यागकर अरण्य एकान्त मे उन्होने कठोर तप प्रारम्भ किया और अन्त मे साधना सिद्ध कर वे जिन-सर्वज्ञ बने। अविद्या के पाश से मुक्त बने। तीस वर्ष की लम्बी अवधि तक उन्होने धर्म-प्रचार किया था। उत्कल का कुमारी पर्वत उनका प्रमुख केन्द्र था। जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कुछेक दिशाओ मे वही से हुआ था। सम्राट् अशोक ने कलिंग पर विजय की, किन्तु उस नर-सहार ने उनके अन्त करण को द्रवित कर दिया। फलस्वरूप वे बौद्ध बन गये, और बौद्ध धर्म का प्रचार कर देवानाप्रियदर्शी बन गये। बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचार

दिग्दिगान्त मे फैल गया। इसके बावजूद जैन धर्म उत्कल मे अपना सिर टिकाकर खडा रहा। समय ने पलटा खाया। उत्कल पुन स्वाधीन हुआ। ई० पू० प्रथम शताब्दी के समय खारवेल ने शासन को अलकृत किया। "भारत मे अनेक दिशाओ की दिग्विजय कर जैन धर्म की लहर को उन्होने बहुत अधिक विस्तृत बनाया था।" भगवान महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का प्रचार किया था, वह धर्म चातुर्याम धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें चार महाव्रत थे—अहिसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। महावीर ने इसी चातुर्याम धर्म को सस्कारित कर उसमे एक महाव्रत और जोडा था। वह पाचवा महाव्रत था—आत्म-सयम (ब्रह्मचर्य)। वे इस पर बहुत बल देते थे।[१]

जैन धर्म मौर्यकाल मे दो भागो मे विभक्त हो गया था। उस समय जैन धर्म के दो प्रधान आचार्य भद्रबाहु और स्थूलिभद्र थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भद्रबाहु थे और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य स्थूलिभद्र। हरिषेण कृत 'आराधना कथाकोष' मे लिखा है कि आचार्य भद्रबाहु को यह ज्ञात हो गया था कि बारह वर्ष का लम्बा दुष्काल पडने वाला है, इसलिए उन्होने अपने शिष्यो को दक्षिण भारत तथा दूसरी दिशाओ मे भेज दिया था। वे स्वय उज्जयिनी चले गये थे। अनशन स्वीकार कर वही समाधि-मरण प्राप्त किया था।

बौद्ध धर्मग्रन्थो को जैसे 'पिटक' कहते हैं, जैन शास्त्रो को 'आगम' कहते हैं। आगमो का सकलन भद्रबाहु ने किया था। ई० पू० तीसरी या चतुर्थ शताब्दी की यह घटना है। इससे पहले सम्पूर्ण जैन वाड्मय कठस्थ था। उसका प्रचार मौखिक रूप मे ही होता था। ई० पू० ५४ वल्लभि मे जैनो की एक महा समिति आचार्य देवर्धिगणी के नेतृत्व मे सम्पन्न हुई थी। उसमे जैन शास्त्रो को सकलित[२] कर पुस्तकारूढ किया गया। देवर्धिगणी

---

१ Indian Antiquary, Vol IX, pp 160-61

२ Early History of India N N Ghosh, 1951, pp 43-52

क्षमाश्रमण जैनो के बुद्धघोप कहे जा सकते हैं। वे सकलित आगम चार भागो मे विभक्त किये गये। वर्तमान जैनो के अनेक धर्मग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अनुपलब्ध साहित्य को 'पूर्व' कहते हैं।

दिगम्बर जैनो का साहित्य भी बहुत उच्चस्तरीय है। वह सब प्रकाश मे नही आया है।

आगमो के अतिरिक्त जैनो के विविध पुराण और इतिहास-ग्रन्थ भी हैं। वे हिन्दू-पुराणो के सदृश हैं। इसके अतिरिक्त अनेक जैन व्याकरण, भापा-कोश, अलकारशास्त्र, आयुर्वेदिक आदि ग्रन्थ भी हैं। 'अमरकोप' भी एक जैन कृति है, ऐसा लगता है।

जैन धर्म का जन्म उत्तर भारत मे हुआ था किन्तु उसका प्रचार-प्रसार दक्षिण भारत मे विशेप रूप से हुआ। मदुरा, त्रिचनापल्लि आदि क्षेत्रो मे जैन प्रचारक गये थे और वहा धर्म-प्रचार किया था। उन्होंने वहा की जनभाषा तमिल मे साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। आज जो तमिल व्याकरण चल रही है, वह एक जैन-मुनिकृत है। कन्नड साहित्य के सम्बन्ध मे भी यही बात है। जैन लोग उस युग मे वस्तुत बहुत प्रसिद्ध थे।

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। उसमे भक्ति का प्रचलन नही था। जिस समय देश मे महादेव के स्तोत्र, गीत आदि का प्रचलन बढने लगा, उस समय उसका प्रभाव क्रमश क्षीण होने लगा। देखते-देखते इस नये सहज और सरस भक्ति-स्तोत के सामने कठोर वैराग्यात्मक जैन धर्म का टिकना असभव हो गया। उसका स्थान शैव धर्म ने ले लिया। फिर भी जैन धर्म बहुत समय तक जीवित रहा। कालक्रम से वह अन्य स्थानो से हटकर आज केवल राजस्थान और गुजरात प्रान्त मे रह गया है।

जैन धर्म की मान्यता है कि लोक शाश्वत है, उसका निर्माण किसी के द्वारा नही हुआ है। आत्मा-जीव को जब अपने स्वरूप का भान होता है तब वह अविद्या को भेदकर ज्ञान-विद्या का अधिकारी होता है। जीव और पदार्थ—अजीव, दोनो परस्पर आधारित होकर रहे हुए हैं। पदार्थ के साथ गुण लगे हुए हैं। पदार्थ मे परिवर्तन होता रहता है। पदार्थ छह हैं—धर्म,

अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण और चमत्कारिक है। यही जैन धर्म का दर्शन है—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्याद् नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। अर्थ की दृष्टि से यह है—अपने स्वरूप की अपेक्षा से, यह नही है, पर-स्वरूप की अपेक्षा से, यह है और नहीं है—स्वरूप और पर-स्वरूप की अपेक्षा से, एक साथ दोनो अवक्तव्य है। इस प्रकार यह बहुत विचक्षण और गभीर है। इसकी पृष्ठभूमि अनेकान्त है। एक वस्तु का दर्शन अनेक दृष्टियो से किया जा सकता है, जैसे—पिता की अपेक्षा से मैं पुत्र हू, बहन की अपेक्षा से भाई, भानजे की अपेक्षा से मामा। मैं एक होकर भी अनेक हू। माता-पिता की अपेक्षा से पुत्र हू किन्तु बहन की अपेक्षा से नही। दो व्यक्तियों की अपेक्षा से मेरा एक साथ उल्लेख किया जाना असम्भव है, इसलिए मैं अवक्तव्य हू। एक होकर यह होने, न होने और अवक्तव्य की बात बहुत सूक्ष्मता को लिए हुए है।

विश्व की विविध वस्तुओं को विविध दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति से हमारी दृष्टि उदार बनती है। इससे समस्त प्रकार के विरोधो का शमन किया जा सकता है और परस्पर प्रेम तथा सद्भावना का विस्तार किया जा सकता है।

जैन धर्म मे मूल तत्त्व सात या नौ हैं

१ जीव—जिसमे चैतन्य (उपयोग) होता है।

२ अजीव—जो उपयोग-रहित है।

३ पुण्य—शुभ कर्म का नाम पुण्य है।

४ पाप—अशुभ कर्म का नाम पाप है।

५ आस्रव—कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम आस्रव है।

६ सवर—आस्रव का निरोध सवर है।

७ निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद होने से जो आत्म-उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

८ बन्ध—कर्म पुद्गलो का ग्रहण बन्ध है।

९ मोक्ष—समस्त कर्मो का क्षय मोक्ष है।

दिगम्बर परम्परा मे पुण्य-पाप का स्वतन्त्र उल्लेख नही है। ये बन्ध के अन्तर्गत हैं। श्वेताम्बर परम्परा मे इन्हे पृथक् करने से तत्त्वो की सख्या नौ हो जाती है। कोई मौलिक भेद नही है।

जैनो के आठ मगल हैं। हमने उन्ही मे से आठ मगलों को ग्रहण किया है। विवाह के बाद आठ मगलो का अनुष्ठान होता है। आठ मगल ये हैं—श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण। साधारणतया मगल के लिए हम लोग पूर्ण कुम्भ की स्थापना करते हैं और उसमे आम की डाली रखते हैं। दही, मत्स्य भी हमारे मगल-सूचक हैं। इससे स्पष्ट जाना जा सकता है कि जैन धर्म के आठ मगलो को हिन्दू धर्म ने भी अपने मे समाविष्ट किया है।

आठ मगल दूसरे प्रकार के और भी हैं—मृगराज, वृक्ष, नाग, कलश, व्यजन, वैजयन्ती, भेरी और दीप। आठ मगल एक और प्रकार के भी हैं—ब्राह्मण, गाय, अग्नि, हिरण्य, घृत, सूर्य, पानी और राजा। जैन धर्म मे पूजा के लिए अष्ट प्रतिहार्य आवश्यक होते हैं—अशोक, सुरपुष्प-वृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामडल, दुन्दुभि और आतपत्र (छत्र)।

बौद्धो के तीन शरण के समान जैन धर्म का विश्वास तीन रत्न मे है। इनमे सम्पूर्ण तत्त्व समाहित है। तीन रत्न ये हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। मोक्ष के लिए एकमात्र ये तीन ही अवलम्बनीय[1] हैं।

जैन धर्म मे स्वस्तिक चिह्न का विशेष महत्त्व है। अगले पृष्ठ पर स्वस्तिक चिह्न दिया जाता है—

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र, Ch I V I
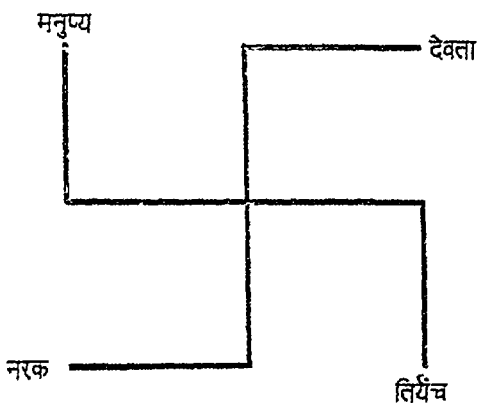
अधोलोक नरक है और उर्ध्वलोक स्वर्ग। मनुष्य मनुष्य है और पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति तथा चींटी, गाय, भैंस आदि चलने-फिरने वाले सभी तिर्यंच हैं। इस प्रकार यह चिह्न जैनो के जीवन गति-विभाग का संकेत करता है। अमुक्त आत्मा इन चारो गतियो मे भ्रमण करती है। जैन दृष्टि मे जीव सर्वत्र है। सर्वभूत दया का यही तात्पर्य है। यह चिह्न जैन ग्रन्थो और मन्दिरो मे अधिकाश पाया जाता है। स्वस्तिक के ऊपर जो तीन विन्दु होते हैं, वे रत्नत्रय—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के ससूचक हैं। रत्नत्रय के ऊपर जो चन्द्र-विन्दु है वह जीव के निर्वाण या मोक्ष की सूचना देता है। तीन रत्न की यह कल्पना जैन धर्म मे उत्तरवर्ती काल मे प्रविष्ट हुई, किन्तु स्वस्तिक चिह्न जो है वह प्राचीन जैन संकेत है। इसमे सन्देह नहीं है।[1]

---

१ नवभारत जुलाई, १९७० से सगृहीत

जैन धर्म मे देवताओ के चार प्रकार हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिप और वैमानिक। ये पातालपुरी, मर्त्यपुरी, अन्तरिक्ष और द्याभामडल के अधिपति हैं। खडगिरी मे एक पातालपुरी और एक मर्त्यपुरी गुफा आज भी विद्यमान है।[१]

जैन तीर्थंकरो का यश अतुलनीय होता है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो घाट को पार करते हैं, अर्थात् जीवन-नौका को लेकर जो जाने का मार्ग-दर्शन देते हैं। सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। श्रमण बनकर उन्होने विश्व के समक्ष एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया था। ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—कोई किसी से कम नही थे। चौबीस तीर्थंकरो सहित जैन लोग 'त्रेषष्ठ शलाका पुरुषो' को मानते हैं। त्रेषष्ठ शलाका पुरुष ये हैं

२४ तीर्थंकर
१२ चक्रवर्ती
९ बलदेव
९ नारायण-वासुदेव
९ प्रतिनारायण-प्रतिवासुदेव

योग ६३ शलाका पुरुष[२]

---

१ The Heart of Jainism Mrs Sin Clair Stevenson, p 105

२ २४ तीर्थंकर—१ ऋषभनाथ, २ अजितनाथ, ३ सभवनाथ, ४ अभिनन्दन, ५ सुमतिनाथ, ६ पदमप्रभ ७ सुपाश्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधिनाथ १० शीतलनाथ, ११ श्रेयासनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ १४ अनतनाथ, १५ धमनाथ, १६ शान्तिनाथ १७ कुथुनाथ, १८ अरनाथ, १९ मल्लिनाथ, २० मुनिसुव्रतनाथ, २१ नमिनाथ, २२ नेमिनाथ, २३ पाश्वनाथ और २४ महावीर।

१२ चक्रवर्ती—१ भरत २ सगर, ३ मघवान, ४ सनत्कुमार, ५ शान्तिनाथ, ६ कुथुनाथ, ७ अरनाथ, ८ सुभौम, ९ पदमनाभ १० हरिषेण, ११ जयसेन, १२ ब्रह्मदत्त।

जैन धर्म त्याग-प्रधान है। उसमे बाह्य वीरत्व को स्थान नही है। वह कहता है—स्वय पर विजय करो। सही जैन वही होता है, जो अपने को जीतता है या जिसने अपने को जीत लिया है।

अपने को जीतने का अर्थ है—अपनी वासनाओ और राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियो को अनुशासित रखना। जो स्वय पर विजय करता है वही विश्व पर विजय कर सकता है, यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म की अपनी मौलिक विशेषता यही है—अपने आपको पूर्णतया स्वय के अधीन रखना। जिसके द्वारा सबका हित साधा जा सके, किसी का अहित न हो।

समस्त धर्मों के मूल मे यही विचार रहा हुआ है। जैन धर्म के सम्बन्ध मे विशेष जोर देकर कहने का तात्पर्य यही है कि इसमे मनुष्य का भाग्य उसके स्वय के हाथो मे है। जैसा वह कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है। इसलिए कर्म बहुत बलवान होता है। कर्म ही बन्धन है और कर्म ही मुक्ति। विचारपूर्वक कर्म करने से हम मुक्त पुरुष की तरह आनन्दित रह सकते हैं। जैन धर्म केवल उसी मुक्त पुरुष की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करता है, इसलिए उसमे किसी दूसरे के आश्रय की अपेक्षा नही है। मैं ही अपने को मुक्त कर सकता हू और मैं ही अपने को बाध सकता हू। दूसरे देवता, ईश्वर या किसी बाह्य शक्ति पर निर्भर रहने की आवश्यकता नही है।

जैन धर्म की यह आत्मावलम्बन-प्रवृत्ति बौद्ध धर्म मे भी है। क्रिया की प्रतिक्रिया निश्चित होती है, अत विवेकपूर्वक कर्म करना चाहिए। क्रिया-कर्म से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है, वह यह कि फलाकाक्षा से बचना

---

९ बलदेव—१ अचल २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नन्दन, ८ रामचन्द्र और ९ पद्म।

९ नारायण वासुदेव—१ त्रिपृष्ठ, २ द्विपृष्ठ, ३ स्वयभू, ४ पुरुषोत्तम, ५ पुरुषसिंह, ६ पुण्डरीक, ७ दत्तदेव, ८ लक्ष्मण, ९ कृष्ण।

९ प्रतिनारायण-प्रतिवासुदेव १ अश्वग्रीव, २ तारक, ३ मेरक, ४ मधु, ५ निशुम्भ, ६ बलि, ७ प्रह्लाद, ८ रावण, ९ जरासन्ध।

चाहिए। फलाकाक्षा के साथ तृष्णा का योग है। तृष्णा बन्धन है। बौद्ध धर्म का भी तृष्णा के विषय मे यही कहना है। जैन धर्म ने मूल को पकडा है। उसी पर बल दिया है। वह मूल है—'जो कुछ हू वह मैं हू'। मेरी मुक्ति मेरे द्वारा होगी, किसी दूसरे के द्वारा नही। मुझे कोई भी शक्ति मुक्त नही कर सकती। इसलिए किसी दूसरे के अवलम्बन की अपेक्षा नही है। मेरा आधार मैं हू। मुक्ति या बन्धन का कारण मैं स्वय हू। जैन धर्म की यह सबसे बडी विशेषता है। हिन्दुओ के भागवत और पुराणो मे भी यह सत्य उद्भासित हुआ है। किन्तु इसे भूलकर हम अनेक प्रकार के देव-देवियो की उपासना मे निरत हो गये। बाह्य शक्ति की पूजा करते हैं और मुक्ति के लिए किसी दूसरे की खोज करते हैं। जैन धर्म का सर्वोत्तम उपदेश यही है कि मानव और दूसरे प्राणियो के साथ अपनी एकता और मित्रता की स्थापना करो। यह सब अहिंसा धर्म का परिणाम है। इसलिए जैन लोगो ने अहिंसा को बहुत सूक्ष्म रूप से स्वीकार किया है। अहिंसा की दृष्टि से ही वे रात को भोजन नही करते हैं। कारण, रात मे प्रकाश करने से अनेक जीव पडकर उसमे मर जाते हैं, भोजन मे भी आ जाते है। इस प्रकार पानी भी बिना छाने नही पीना, सचित्त नही खाना। यह सब अहिंसा का ही विवेक है।

विश्व के अन्यान्य धर्मो मे जिस प्रकार युद्ध की घटाए और वीरत्व की गाथाए देखने को मिलती है, वैसे जैन धर्म मे नही है। जैन धर्म मे शान्ति, सौहार्द, प्रेम, सयम, अहिंसा, मधुरता आदि गुणो की विशेषता है। धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक विचारो से जैन धर्म ने मनुष्य जीवन को सुन्दर एव सुखी बनाने का विधान दिया है। किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिए। अहिंसा धर्म के द्वारा ही व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है—जैन धर्म का यह प्रमुख सिद्धान्त है। निर्वाण के सम्बन्ध मे बौद्ध धर्म कहता है—अन्त मे शरीर का नाश करना होगा। किन्तु जैन धर्म ने कहा है—अपने को पूर्णतया जीत लेने के बाद मानव सेवा मे लगना चाहिए। वास्तविक मोक्ष यही है।

यह आश्चर्यजनक लगता है कि इस प्रकार का शान्तिप्रिय धर्म समग्र

विश्व मे व्यापक रूप से प्रसारित नही हो सका। मैं सोचता हू कि शान्ति-स्पृहा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है किन्तु फिर भी मानवीय हृदय मे युद्धजन्य प्रवृत्तिया अधिक उजागर रहती हैं। जैन धर्म मूल से ही उस प्रवृत्ति पर प्रहार करता है। वह उसे उखाडना चाहता है और वैसा प्रयत्न किया भी है। इसलिए विश्व के दूसरे स्थानो मे धर्म-प्रचारको को भेजकर धर्म के लिए युद्ध का प्रयत्न नही किया। तब यह प्रश्न उठना भी सहज है कि बौद्ध धर्म ने धर्म नाम से वैसा नही किया, फिर भी वह भारत के बाहर चीन, जापान इत्यादि सुदूर देशो मे कैसे प्रसारित हो सका ? इसका कारण जैन धर्म की नीरस और बहुत कठोर साधना है, जो उसे साधारण जनो मे लोकप्रिय नही बना सकी। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म मध्यमार्गी था। उसमे अति कठोरता, अति विलासिता नही थी। इसलिए वह सहज, अधिक जनभोग्य बन सका। जैन तीर्थंकरो की सुकठोर साधना के आदर्शों ने वस्तुत जन-मन को विमुग्ध किया था यह सत्य है, किन्तु उसके द्वारा लोग बहुत समय तक अनुप्राणित नही हो सके।

भारत के बाहर दूसरे देशो मे जैन लोग नही देखे जाते हैं, किन्तु भारत में गुजरात, राजस्थान, उत्कल आदि प्रान्तो मे आज भी देखने को मिलते हैं। उडीसा के अनेक जिलो, यथा—पुरी जिले की प्राची नदी अववाहिका, कटक जिले का आठगढ, तिगिरिआ और नूआपाटणा आदि में भी हैं। सिंहभूम जिले में 'राक' नाम की एक जाति है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसे बौद्ध कहा है[1] किन्तु मेरा दृढ अभिमत है कि यह जाति बौद्ध नही, जैन है।

मयूरभञ्ज और केन्दुझर जिलो के जिन-जिन स्थानो में जैन धर्म के प्राचीन अवशेष और चिह्न उपलब्ध होते हैं उनमे 'सराक' तालाब है। उन समस्त तालाबो का निर्माण 'सराक' जाति ने कराया था। 'सराक' जाति

---

१. H P Shastri's Introduction to Neo-Buddhism in Orissa N N Basu

निरामिष-भोजी है। उनकी आचार-पद्धति हिन्दू धर्म द्वारा प्रभावित होने पर भी जैन प्रभाव से विशेष प्रभावित है। सम्भवत इसलिए हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हे बौद्ध कहा हो। शास्त्रीजी के बहुत पहले पडित डाल्टन साहब ने उसे जैन घोषित किया है।[1]

---

१ Chuhanaghen Palton J B O R , Vol XII, Part III में S N Ray की Saraks of Mayurbhanj द्रष्टव्य है।

जैन धर्म की ऐतिहासिक भूमिका

•

आज हम भारत के जिस भौगोलिक खड को उडीसा कहते हैं, उसका विस्तार इतना विशाल नही है। फिर भी वहा के डेढ करोड अधिवासियो में से डेढ सौ व्यक्ति भी जैन धर्म को मानने वाले है या नही, इसमे सन्देह है, जबकि प्राचीन काल मे यह धर्म उत्कल का राष्ट्र धर्म था। सम्राट् खारवेल द्वारा निर्मित खडगिरि की गुफाओ में इसके अनेक प्रमाण हैं। जैन धर्म के विषय में विचार-विमर्श करने के लिए जाए तो इसका अभ्युदय, प्रसार, प्राधान्य, देश की परम्परा, सस्कृति, भूगोल, इतिहास, भाषा, साहित्य एव दूसरे-दूसरे अनेक विषयो का अनुसधान कर तत्सम्बन्धी सामग्री को प्रस्तुत करना होता है। सबसे पहले हम भौगोलिक आधार पर विचार करेंगे।

कलिंग बहुत प्राचीन देश है। इसका प्रमाण प्राचीन सस्कृत-पुराण और धर्मग्रन्थो में प्राप्त होता है।[1] इसके पश्चात् उत्कल के सम्बन्ध में प्राचीन मिस्रीय, ग्रीक एव चीनी पर्यटको की विवरणी में मिलती है।[2] यह प्राचीन भू-भाग कुल मिलाकर छह राष्ट्रो का सम्मिश्रण था। इनके नाम हैं—

---

१ कूर्मपुराण—अध्याय ४१, अग्निपुराण—अध्याय १०, वायुपुराण—अध्याय ३३, ब्राह्मणपुराण—अध्याय १४, वराहपुराण—अध्याय ७५ विष्णुपुराण—अध्याय १८, स्कन्दपुराण—अध्याय ३६

2. Pliny, Ptolemy Geography, Yuan Chawang etc

ओडराष्ट्र, कलिंग, कक्रोद, उत्कल, दक्षिण कोशल और गगराडी। कभी-कभी ये सब एक चक्रवर्ती के नेतृत्व में रहे थे और कभी-कभी स्वाधीन होकर भी।

यह चर्चा तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और उसके विकास की हुई। किन्तु विचित्र बात यह थी कि अलग-अलग होकर भी इन राज्यो की सस्कृति और सभ्यता एक थी और एक ही मार्ग से ये विकसित हुए थे।

वास्तविक दृष्टि से उत्कल सीमा उत्तर मे गगा नदी, दक्षिण में गोदावरी, पूर्व मे समुद्र, पश्चिम मे दण्डकारण्य तक विस्तृत थी।[1] दक्षिण कोशल का कुछेक अश कालान्तर में उत्कल से पृथक् हो गया था। शेष जो बचा था वह त्रिकलिंग नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इस त्रिकलिंग नाम को दृष्टि में रखकर प्लिनी और मेगास्थनिज आदि वैदेशिक पर्यटकों ने अपनी विवरणी मे उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग का आभास दिया है।

उडीसा में जैन धर्म की चर्चा करते समय उसका व्यवहार व्यापक अर्थ में करना उचित है। देश का आचार-विचार, कृषि, सस्कृति, धर्मग्रन्थ, काव्य-पुराण आदि साहित्य, स्थापत्य, शिल्प आदि जितने विषय हैं उन पर इस धर्म के प्रभाव की चर्चा वस्तुत आलोचनीय है। केवल उडीसा में ही नही, किसी भी राज्य और प्रान्त के सम्बन्ध में यह तर्क समान रूप से लागू होता है।

किन्तु उससे पहले इस धर्म के सस्थापक, प्रचारक और धर्म-नीति के विषय मे भी विचार करना आवश्यक है। किसी धर्म की प्रतिष्ठा, प्रचार, परिवृद्धि, विकास एव पराकाष्ठा और उस धर्म की श्रेष्ठता से पूर्व उसके प्रचारक के साधुओं का पवित्र जीवन एव उच्च आदर्श प्रसग क्रमश आखो के सामने आ जाते है। इस दृष्टि मे जब हम जैन धर्म के विषय मे खोज करने के लिए प्रस्तुत होते हैं तब हमें ई० पू० आठवी शताब्दी और उससे भी आगे जाना होगा। भारतीय इतिहास का क्रम वस्तुत सही रूप मे ई०

---

१ कूर्मपुराण।

पू० सातवी शताब्दी तक जाता है।[१] उससे आगे वढने के लिए हमे अठारह पुराणो का आश्रय लेना होता है। पुराणो मे घटनाओ का सामान्यत फेर-बदल होने पर भी साधारण विवरण का विच्छिन्न सामजस्य रहा हुआ है। उससे इतिहास की क्रमवद्धता का निर्णय करना सरल नही है, किन्तु फिर भी मुख्य-मुख्य घटनाओ को पृथक् किया जा सकता है। इस तरह क्रमिक रूप से सुदूर अतीत के तिमिराच्छन्न अश पर दृष्टिपात करने से हमे जो भारतीय समय-मापक निशान देखने को मिलता है, वह कुरुक्षेत्र का महायुद्ध है। उसका समय ई० पू० चौदहवी शताब्दी है, ऐसा निर्धारित किया गया है।[२]

जैन धर्म की परम्परा मे वर्धमान महावीर का आविर्भाव काल भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष वाद का है। ये दोनो अन्तिम तीर्थकर सवसे अधिक शक्तिशाली प्रचारक थे। जैन धर्म मे चौवीस तीर्थंकरो का उल्लेख मिलता है। उनके नाम पहले दिये गए हैं। भगवान पार्श्वनाथ से पहले २२ तीर्थंकर हो चुके थे। उन्होने धर्म-प्रचार किया था। इनमे से प्रथम तीर्थकर भगवान ऋपभनाथ और वाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ या अरिप्टनेमि होते हैं। अरिष्टनेमि-वृष्णि-वशीय और श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे।

इन्हे ई० पू० चौदहवी शताब्दी की श्रेणी मे रखा जा सकता है। इसका निश्चय पुराण के आधार पर करना होगा। पुराण मे महाभारत युद्ध के वाद से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य तक का एक निर्दिष्ट काल धारावाहिक रूप से

---

१ Political History of India Dr H C Ray Chaudhary वौद्ध ग्रन्थ 'आर्य मञ्जुश्री मूल कल्प' का अनुवाद ९८३ ई० मे तिब्वतीय भापा मे हुआ था। उसके एक अध्याय में भारतीय राजवश का इतिहास ७७० ई० पू० तक का दिया गया है। उसमे दूसरे उच्च साधक की श्रेणी मे कलिंग मे ऋपभ का उल्लेख किया गया है। — Dr K P Jayaswal's Imperial History of India

२ Proceeding of Indian History Congress 1939, Calcutta Sessions—Dr A S Altekers' Presidential Address, Appendix A

दिया गया है। दस-ग्यारह वर्षों का समय इधर-उधर होने पर भी उसके अन्य समय का विवरण प्राय इतिहास द्वारा समर्थित है। दस-ग्यारह के अन्तर का कारण चान्द्र और सौर वर्ष है।

इसलिए विभिन्न धर्म-प्रचारको के जीवन-काल का व्यवधान ५०० से २५० वर्ष के बीच मे देखा जाता है। यह स्वाभाविक रीति है। कोई भी नव-प्रवर्तित धर्म प्रारम्भ के पश्चात् अपनी वैसी निर्मल ज्योति नही रख पाता, बाद मे वह धूमिल हो जाती है, इतिहास का यह चिरन्तन नियम है। विश्व मे महापुरुषो का आविर्भाव उस धूमिल-ज्योति—अंध-विश्वासो को दूर कर धर्म-चक्र का प्रवर्तन या उसे सस्कारित करने के लिए होता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि अरिष्टनेमि के पूर्व जो २१ तीर्थंकर हुए थे। उनके समय का अन्तर निकालने से आदिनाथ का काल ई० पू० ३०० वर्ष प्राय ग्रहण किया जा सकता है। मिस्र, बैबिलोन, सुमेरीय आदि प्राचीन सभ्यता से यही काल तथा पुरातत्व-दृष्टि से मोहनजोदारो से हडप्पा और नर्मदा के आसपास की भूमि का काल सहजतया यहा तक प्रसारित होता है।[1]

ऋषभदेव का उल्लेख ऋग्वेद मे भी आता है।[2] इसे यदि प्रक्षिप्त स्वीकार किया जाए तब भी वेदो के सकलन के समय किया होगा, ऐसा मानना होगा। वेदो का सकलन द्वैपायन व्यास ने किया था। व्यास होते हैं—कुरुक्षेत्र युद्धकाल (ई० पू० चौदहवी शताब्दी) के व्यक्ति। जिस समय उन्होंने वेदो का सकलन किया था, उस समय ऋषभनाथ देश मे भगवान के रूप मे प्रतिष्ठित थे, यह स्वीकार करना होगा।

इस विषय मे लोकमान्य तिलक की आलोचना और विचार मनन

---

१ Prehistoric India—Stuart Piggott, पृ० १३२-२१३

२ ऋग्वेद में दिगम्बर मुनि का वर्णन है। ऋग्वेद ५ मडल, १० वें ऋचा १३६। इसमें दिगम्बरों के नेता केशी की प्रशसा की गई है। इसी केशी का वर्णन भागवत के ऋषभदेव के वर्णन के साथ प्राय समान है।

करने योग्य है।[१]

जैन ग्रन्थो मे ऋषभदेव के सम्बन्ध मे अनेक आंशिक विषयो का उल्लेख है।[२] इक्षु का आविष्कार उन्होने किया था। पशुपालन और कृषि आदि प्रशिक्षण भी उन्होने लोगो को दिया था। ऐसी बहुत-सी बाते है। उनके समय मे वस्तुत भारतवर्ष या भरत राजा का राज्य ऐसा कोई नाम प्रचलित नही था। ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा था। या भरत ने भारत ऐसा नाम रखा था। उससे पूर्व ईक्ष्वाकु वश या आखु आविष्कारक वश इस देश मे था और कृषिकार्य चलता था।

लोग यज्ञ भी करते थे। ऋषभदेव के पिता को पुत्र-प्राप्ति भी पुत्रेष्टि-यज्ञ के फलस्वरूप हुई थी, इसीलिए ये सब बाते ऋषभदेव के पूर्ववर्ती हैं। ऋषभदेव बहुत प्रजा-वत्सल राजा थे। उन्होने शास्त्र-सम्मत शासन किया था। वृद्धावस्था मे उन्होने सब कुछ त्यागकर सन्यास—श्रमण धर्म स्वीकार किया था। उनके अनेक रानिया थी। एक बार एक नर्तकी के नृत्य-गीत को देखकर वे ससार-विमुख हो गये थे, फलस्वरूप ससार का परित्याग कर दिया था। दीर्घकालीन तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त कर अहिंसा धर्म का व्यापक प्रचार किया था। उनके प्रथम नौ पुत्र राजा होकर बाद मे श्रमण बने थे, और दूसरे-दूसरे ब्राह्मण और ऋषि हो गये थे। भगवान ऋषभदेव अहिंसा धर्म मे दीक्षित होकर यज्ञ मे पशु-हिंसा के निषेध के लिए लोगो को प्रबुद्ध कर रहे थे।

उत्तरवर्ती तीर्थंकरो ने जीव-हिंसा नही करने के लिए जिन-जिन उपायो

---

१ गीता रहस्य—बाल गगाधर तिलक कृत (भूमिका)।

२ भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र मे ऋषभदेव की विविध विषय-सम्बन्धी शिक्षाओ का उल्लेख है। पहले लोग कल्प वृक्ष से भोजन प्राप्त करते थे। Wilson's विष्णु-पुराण—p 103 Jacobi in I, Antiquary IX, p 103, Mahavir and His Predecessors

का अवलम्ब लिया था, उनके कारण गार्हस्थ्य धर्म का पालन कठिन हो गया था। धम के वहुत कठोर नियम और शुष्क नीति लोगो को अनुप्राणित नहीं कर मकी थी। जैनो के लिए व्यवसाय के अतिरिक्त जीविकार्जन का दूसरा कोई मार्ग नही रहा था। इस तरह एक निवृत्तिपरक और ज्ञान-मार्गी धर्म प्रवृत्तिपरक समाज मे बार-बार परिमार्जित होने लगा हो तो कोई आश्चर्य नही है। हिन्दू पुराणो मे अनेक सिद्ध दिगम्बर अवधूतो का वर्णन ममान्नार्ह भावना के माथ लिपिवद्ध किया है। निश्चित रूप मे वे जैन धम के मूलतत्त्व को स्वीकृत कर नि स्वार्थ भाव से शहरो और जनपदो मे पद-भ्रमण करते थे।

इस प्रकार २१ तीर्थंकरो का जन्म हुआ था। २२ वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि की विशिष्टता का दर्शन हम महाभारत युग मे करते हैं। अरिष्टनेमि उस ममय लोक-पूज्य थे किन्तु कृष्ण की भगवत्ता प्रचारित नही हुई थी। अरिष्टनेमी के नाम मे जो प्रकाशित सस्कृत पुराण है उसे जैन हरिवश कहा जाता है। इसकी रचना हिन्दू 'हरिवश' के साथ साधारण समानता को लेकर की गयी है। इसमे स्पष्ट लिखा है कि कृष्ण वासुदेव, जरासध, अथवा पाडवो के शासनकाल मे अनेक मनुष्यो ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी। अर्जुन ने अपने वनवास के समय रामगिरि पर्वत पर जैन प्रतिमा का दर्शन किया था। महाभारत युग मे जैन धर्म प्रचलित रहा हो तो कोई आश्चर्य नही है। कारण, इसकी मूल नीति ब्राह्मण धर्म से विशेष भिन्न नही थी। इसलिए जैनो के तीर्थंकर हिन्दुओ के भी अवतार हो गये। अरिष्टनेमि द्वारा प्रचारित जैन धम साधारण जनता के लिए आकर्षणीय न होकर वह एक जागृत धर्म के रूप से समादृत था। ई० पू० १४०० से प्राय ५०० वर्ष तक वह आर्यावत मे व्यापक रहा था। हरिवश और महाभारत मे रैवतक पर्वत का वर्णन है। यह पवत जैनो का शत्रुञ्जय पवत है।

पार्श्वनाथ का आविर्भाव काल ई० पू० ८५० और निर्वाण काल ई०पू० ७५० है। उनके पिता अश्वसेन वाराणसी—वनारस के राजा थे। माता वामादेवी अयोध्या के राजा प्रसेनजित् की पुत्री थी। उन्होने राज्यपद

अस्वीकार कर श्रमण धर्म अगीकृत किया था। वाराणसी के निकट सिद्धि—केवलज्ञान प्राप्त कर अपने विशुद्ध धर्म का प्रचार किया था। उनका धर्म वगाल से लेकर गुजरात के उपरि क्षेत्रो मे भी प्रसारित हुआ था। उनके धर्म मे अधिकाश साधारण श्रेणी के तथा शूद्र वर्ग के व्यक्ति दीक्षित हुए थे। उनका निर्वाण 'परेमनाथ' पर्वत पर हुआ था। वहुत सभव है कि उनके समय उत्कल मे जैन धर्म व्यापक रहा था।

पार्श्वनाथ के सम्वन्ध मे हम निम्नोक्त तथ्यो की जानकारी पाने हैं।[1] राजा प्रसेनजित् के सुन्दर कन्या थी। उसका नाम प्रभावती था। वह पार्श्वनाथ के गुण-विशेषताओ से मुग्ध हो गई थी और उनके साथ ही विवाह करना चाहती थी। लेकिन कलिग राजा और अन्यान्य राजा लोग भी उसके लिए लालायित थे। कलिग राजा प्रभावती को उडाकर ले गए। फलस्वरूप प्रसेनजित् और कलिग राजा के वीच युद्ध छिड गया। राजा प्रसेनजित् ने पार्श्वनाथ को भी सहयोग के लिए अनुरोध किया। पार्श्वनाथ उस युद्ध मे सम्मिलित हुए। शत्रुओ को परास्त कर उन्होने प्रभावती के साथ विवाह किया। खडगिरि पर्वत की अनन्त गुफा मे पार्श्वनाथ की जो प्रतिमा है, उस पर एक सर्प है। उत्कल पार्श्वनाथ का यह एक विशिष्ट चिह्न है। महेन्द्र पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथ की प्रतिमा सहस्रफण-सर्प से आच्छादित है।

श्रमण भगवान महावीर का जन्म ई० पू० ५९९ मे हुआ। तीस वर्ष की अवस्था मे वे दीक्षित हुए। वारह वर्ष की दुर्धर्ष साधना के अनन्तर कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। वयालीस वर्ष की वय मे तीर्थंकर वने। ७२ वर्ष की आयु मे ई० पू० ५२७ मे उनका निर्वाण हुआ था। केवलज्ञान जृम्भिक गाव मे श्यामक नाम के गाथापति के खेत मे शाल वृक्ष के नीचे हुआ था। तीर्थंकरो मे वे सर्वश्रेष्ठ थे। कल्पसूत्र, उत्तरपुराण, त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, वर्धमान चरित्र आदि ग्रथो मे उनके जीवन के सवध मे हमे विशेष झाकी

1 See Parswanatha Charita Bhavadeva Suri

मिल सकती है। जैन धर्म मे उनका स्थान अप्रतिहत और अद्वितीय है। सिंह उनका चिह्न है। इससे प्रतीत होता है कि चौबीस तीर्थंकरो मे वे विशेष सम्माननीय और प्रभावशाली रहे हैं।

चौबीस तीर्थंकरो मे से चौदह तीर्थंकरो का शरीर-विसर्जन—निर्वाण अग, वग और मगध मे हुआ है। जैन धर्म एक समय पश्चिम भारत मे भी फैला हुआ था। किन्तु उसका प्रधान कार्यक्षेत्र अग, वग और कलिंग ही रहा था, यह सहजतया अनुमानगम्य है। इसके अतिरिक्त विशेष ज्ञातव्य यह है कि मगध और कलिंग साम्राज्य मे राजधर्म के रूप मे भी यह परिणत हुआ था। बौद्ध धर्म का उस समय इतना अधिक प्राधान्य नही था।

किसी भी एक धर्म को सुदूर प्रदेशो मे विस्तृत और प्रतिष्ठित होने के लिए कम से कम पाच सौ वर्ष के समय की अपेक्षा रहती है। बुद्ध के वेद-विरोधी और साख्य-सम्मत बौद्ध धर्म को एशिया भूखड मे प्रसारित होने के लिए चार सौ वर्ष लगे थे। इस तर्क के आधार पर आगे बढें तो यह मानना होगा कि जैन धर्म भी महावीर के बहुत पहले से प्रचलित था। धर्म के प्राचीनत्व के सम्बन्ध मे यही सबसे बडा तर्क है।

जैन धर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे सधारणतया यह कहा जा सकता है कि श्रुत केवली भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त और दूसरे कई अन्य साधुओ को लेकर ई० पू० २९८ वर्ष मे सबसे पहले दक्षिण भारत मे पहुचे थे।[1] उसके सिवाय और भी प्रमाण है कि जैन धर्म महावीर के जीवनकाल मे अथवा थोडे समय पश्चात् ही दक्षिण भारत के देशो मे प्रसारित हो गया था। महावीर होते हैं—अन्तिम तीर्थंकर। उनके समय कलिंग, महा-राष्ट्र, आन्ध्र और सिंहल मे जैन धर्म व्याप्त हो गया था। हाथी गुफा शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि महावीर कलिंग मे आये थे और कुमारी पर्वत से जैन धर्म का प्रचार किया था। ई० पू० प्रथम शताब्दी मे जैन धर्म

---

१ Cambridge History of India, Vol I, pp 164-165
Epigraphia Carnatica, Vol I, Early History of India, p 154

कलिग का धर्म था। पार्श्वनाथ के शिष्य करकण्डू कलिग के राजा थे। उन्होने तेरपुर (धाराशिव) गुफा का परिदर्शन किया था और वहा पर जैन मदिरो का निर्माण कराया था।[१] उन मन्दिरो मे तीर्थंकरो की प्रतिमाए स्थापित की गई थी।

और भी कहा गया है कि आन्ध्रप्रदेश मे मौर्य शासन काल के पूव से जैन धर्म प्रचारित था। उसी तरह महावश से जाना जाता है कि ई० पू० पन्द्रहवी शताब्दी के समय जैन धर्म सिहल मे प्रचारित था। इसी तरह पूर्व, उत्तर एव दक्षिण मे चेद, चोल एव तामिल प्रदेशो मे जैन धर्म श्रुतकेवली भद्रवाहु से बहुत पहले पहुच गया था। श्रीयुत रामस्वामी अय्यगर ने अपना अभिमत प्रकट किया है कि दक्षिण भारत का स्पर्श न कर उत्तर भारत का एक धर्म सिहल मे पहुच गया। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? केवल यही सभावना की जा सकती है कि उत्तर से बौद्ध धर्म समुद्री मार्ग से दक्षिण मे गया था। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय बात है कि एक जैन आचार्य अपने नेतृत्व मे जैन सघ के अनेक साधुओ को लेकर गए थे, किन्तु तथापि जैन धर्म ने भद्रवाहु से पहले वहा पर किसी प्रकार का प्रभाव नही छोडा था, यह कैसे विश्वास किया जा सके ? जैन ग्रथो मे लिखा है कि सबसे पहले दक्षिण भारत मे भगवान ऋषभनाथ जैन धर्म को ले गए थे। उनके पुत्र बाहुबली दक्षिण भारत के प्रथम राजा थे। उन्होने ससार का त्याग कर जैन दीक्षा ग्रहण की थी। वे नग्न जैन मुनि थे। गोदावरी के तट पर अवस्थित पोदनपुर के निकट उन्होने घोर तप किया था। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बने। दक्षिण भारत मे इन्ही बाहुबली ने जैन धर्म का प्रचार किया था। इससे जाना जाता है कि दक्षिण भारत मे जैन धर्म बहुत प्राचीन काल से रहा है। इसके अतिरिक्त साहित्य एव स्तम्भ आदि प्रमाणो से भी जैन

---

१ J B O R, Vol XVI, Parts I—II and Karakanducharya's (Karanja Series) Introduction

२ Studies in South India, Jainism, Part 1, p 33

धर्म की ऐतिहासिक प्रामाणिकता प्रकट होती है।

जैन साहित्य में भद्रबाहु के बहुत पहले से दक्षिण मथुरा, पोदनपुर, पलाशपुर, उद्दिल, (मलयगिरि के निकट) महाशोक नगर इत्यादि स्थानो की चर्चा जैन साहित्य मे वर्णित है। दक्षिण मथुरा की स्थापना पाण्डवो ने की थी। उस समय वे वनवास मे थे। जिस समय पाण्डव दक्षिण भारत मे थे[1] उस समय द्वारका का नाश हो गया था, जिससे श्रीकृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ द्वारका को छोडकर दक्षिण मथुरा मे आ रहे थे। मार्ग मे आते-आते जरत्कुमार के बाण से वन मे उनकी मृत्यु हो गई थी। पाण्डव यह सुनकर बलराम को सान्त्वना देने के लिए शीघ्र वहा पहुचे और श्रीकृष्ण का शृंगी पवत पर दाह-सस्कार किया। बलराम ने वही पर तपस्या आरम्भ कर दी। दक्षिण मे जाने के पश्चात् पाडवो ने जब यह सुना कि अरिष्टनेमि भगवान पल्लव देश मे विचरण कर रहे हैं, वे उनके पास गए और शिष्य दीक्षित हो गए।[2] उनके साथ एक द्राविडीय राजा भी जैन बने थे और शत्रुञ्जय पर्वत से उन्होने उन सबका उद्धार किया था।

जैन साहित्य के अतिरिक्त हिन्दू पुराणो मे भी यही जैन विचार मिलते हैं। देव और असुरो के बीच मे युद्ध होने के समय विष्णु दिगम्बर जैन मुनि ने अवतरित होकर असुरो के मध्य अहिंसा और औदार्य भावना का प्रचार किया था।[3] उस समय वे नर्मदा के तट पर निवास करते थे। इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म ने बहुत पहले से ही नर्मदा तट पर अपना केन्द्र स्थापित कर लिया था। आज भी जैन लोग वहा पर पूजा करते हैं।

सम्राट् नेबुचाद नेजार के ताम्र-शासन-पत्र से ज्ञात होता है कि ई०

---

१ जैन हरिवंश, पृ० ४८७

२ जैन हरिवंश सर्ग ५३-६५, और दक्षिण जैन इतिहास—Vol III, पृ० ७८-८०

३ विष्णुपुराण, अध्याय १८
पद्मपुराण, अध्याय १
मत्स्यपुराण, अध्याय २४

पू० ११४० (काठियावाड मे भी इसका प्रमाण है) सम्राट् नेबुचाद रेवानगर के शासक थे और द्वारका मे आये थे। वहा पर 'नेमी' नाम से रवतक पर्वत पर एक मन्दिर का निर्माण कराया था।[1] ये 'नेमी' होते हैं नीर्थंकर अरिष्टनेमि। नेबुचाद नेजार ने उनकी भक्ति-पूजा की थी। क्रमश उनका राज्य रेवानगर नाम से प्रसिद्ध हो गया था। रेवा नदी पर सिद्धवर कूट नामक एक जैन तीर्थ अवस्थित है। इससे पता चलता है कि जैन धम ने दक्षिण प्रान्तो मे बहुत प्राचीन काल से अपना स्थान सुदृढ कर लिया था।

तमिल साहित्य मे भी इसके प्रमाण मिलते हैं। तमिल व्याकरण 'अगथियान' और 'व्यलकापियम्' ग्रन्थ से जाना जाता है कि जैन धर्म दक्षिण भारत मे प्रचलित था। 'व्यलकापियम्' एक जैन लेखक द्वारा ई० पू० चतुर्थ शताब्दी मे लिखा गया है। मणिमेखलायी और शिल्पदीकार भी हमारे सामने अनेक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

इसके सिवाय मथुरा और रामनर जिले मे ई० पू० तीसरी शताब्दी के जो ब्राह्मी लेख मिले हैं, उनसे भी ज्ञात होता है कि उन प्रदेशो मे जैन धर्म बहुत अधिक प्रबल था। वैसा नही होता तो उस समय की इतनी अधिक प्रमाण मे जैन मूर्तिया देखने को नही मिलती। इसलिए स्पष्ट होता है कि जैन धर्म मौर्यकाल के बहुत पहले से दक्षिण भारत मे प्रचारित हो गया था।

हिन्दू शास्त्रो मे बुद्ध भी अवतार के एक अग हैं।[2] बौद्धो के विश्वास के आधार पर इस प्रकार विभिन्न समयो मे लोगो को प्रशिक्षण देने के लिए अनेक बुद्ध अवतरित हुए हैं। यह हिन्दुओ के अवतार के समान ही है। बौद्धो की तरह जैन भी २४ तीर्थंकर या अवतार की चर्चा पर विश्वास करते हैं। हिन्दू पुराणो मे जिस तरह बुद्ध देव को अवतार के रूप मे स्वीकृत किया है,

---

१ Times of India, 19 March, 1935, p 9
एव सक्षिप्त जैन इतिहास, पृ० ६५-६६

२ बुद्ध वश

वैसे ही ऋषभनाथ को भी विष्णु का अवतार माना है। वे चक्रवर्ती राजा थे। पुत्रो को अलग-अलग राज्य देकर अत मे वे दीक्षित हुए थे।[1]

इस दृष्टि से विचार करने पर जैन धर्म और बौद्ध धर्म वेद विधि के खण्डनकर्ता होकर भी वैदिक धर्म के सस्कारक के रूप मे स्वीकृत किये जा सकते हैं। इस ऐतिहासिक अनुच्छेद का यहा प्रत्यक्ष प्रसग न होने पर भी सूचना देने का कारण है, जैन धर्म की मूल प्रकृति और ऐतिहासिक काल का निरूपण करना जिससे धर्म की आलोचना करना बहुत अधिक प्राञ्जल हो जाती है। इतिहास के पृष्ठो को खोलकर देखें तो हमे सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे कलिग की राजशक्ति का स्पष्ट दर्शन होता है, और हम यह भी जान सकते हैं कि उस समय तक कलिग राजा जैन धर्म को मानने वाले थे। चन्द्रगुप्त का कलिग पर आक्रमण न कर दक्षिण प्रान्तो की ओर अभियान करने का कारण यह धार्मिक समानता ही थी।

कलिग शक्तिशाली और स्वाधीन था। उसकी सेना उसी वीरतापूर्वक स्वाधीनता और स्वादेशिकता के लिए प्राण देकर भी अशोक की सेना के साथ लडी थी।[2] युद्ध के फलस्वरूप देश की स्वतत्रता चली गई थी। चडाशोक ने देवानाप्रिय बनकर विश्वजनीन मैत्री का प्रचार किया था। किन्तु कलिग-निवासी उससे प्रभावित होकर सहजतया अपने धर्म को विस्तृत नहीं कर सके थे। इसका प्रमाण उत्तरवर्ती युग मे मिलता है। उत्तर भारत पर दिग्विजय कर खारवेल पाटलिपुत्र से 'जिनासन' को पुन कलिग में लेकर आए थे।[3] हमारे आलोचनीय विषय का प्रारम्भ खारवेल युग से होता है,

---

१ भागवत, प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३
वही द्वितीय स्कन्ध, अध्याय ७
वही, पचम स्कन्ध, अध्याय १-३
वही, पचम स्कन्ध, अध्याय ४
वही, सप्तम स्कन्ध, अध्याय ११

२ R E XIII Corpus Inscriptionum Indiconrum Vol I Hultzch

३ Select Inscriptions D C Sircar

इसे ध्यान मे रखना चाहिए।

यह ई० पू० प्रथम शताब्दी की वात है। अशोक के वाद कलिंग फिर स्वाधीन हो गया था और खारवेल के शासनकाल मे समग्र भारत मे एक शक्तिशाली माम्राज्य के रूप मे उसका उदय हो गया था। खारवेल जैन धर्म के प्रचार मे जुट गए थे। जैन धर्म की यह नई स्थिति उडीमा मे लगभग पाचवी शताब्दी तक, जैन धर्म और वौद्ध तान्त्रिकवाद के प्रवर्तन होने तक रही थी। वह प्रभाव प्राय ई० दमवी शताब्दी के अन्त तक अव्याहृत रूप से रहा था। उमके वाद वैष्णव धर्म के प्रवाह मे विलुप्त हो गया।

कलिग मे प्रथम जैन धर्म

जैन धर्म मे चौबीस तीर्थकरो की मान्यता है। उनमे से कितने ऐतिहासिक है, और कितने काल्पनिक इसकी अब तक कोई युक्तियुक्त मीमासा नही हो सकी है। धर्म के विचार प्रवाह मे गोता लगाने पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उपयुक्त मीमासा करना सरल नही है। ऐतिहासिको के अभिमत से चौबीस तीर्थकरो की कल्पना उत्तरवर्ती काल की है। ऐतिहासज्ञ डॉ० हर्मन जैकोबी एव अन्यान्य विद्वानो ने जैन-शास्त्रों का पर्यवेक्षण कर यह मन्तव्य प्रकाशित किया है कि जैन धर्म का प्रारभ पार्श्वनाथ से हुआ है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से पार्श्वनाथ ही जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक कहे जा सकते है।[1]

पार्श्वनाथ को जैन धर्म के प्रवर्तक के रूप मे स्वीकार करने से जनश्रुति और इतिहास का एक न्यायोचित समाधान हुआ है, ऐसा अनेक व्यक्तियो का विचार है।[2]

पार्श्वनाथ जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक हो या न हो, किन्तु कलिग मे

---

१ I A 2 p 261 and Vol IX, p 162 इस सबध में आशुतोष मुखर्जी द्वारा लिखित Silver Jubilee, Vol III, Part III पृ० ७४-८२ द्रष्टव्य है।

२ O H R J, Vol IV p 79

उन्होने जैन धर्म का प्रचार सर्वप्रथम किया था, यह असदिग्ध है। पार्श्वनाथ के नाम के साथ कलिग की प्राचीन सस्कृति का गहरा सवध रहा है। उदयगिरि एव खडगिरि की गुफाओ मे महावीर की मूर्ति और कथावस्तु ने अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा अपना विशिष्ट स्थान स्थापित किया है। खडगिरि मे मूलनायक के रूप मे पार्श्वनाथ को ही सम्मान दिया गया है। कलिग के साथ पार्श्वनाथ का जो सवध था, उसकी सूचना पिछले प्रकरण मे दी गई है। प्राच्य-विद्या महार्णव नगेन्द्रनाथ वसु ने भगवति-सूत्र, क्षेत्र-समास और भावदेव सूरी द्वारा लिखित चौबीस तीर्थंकरो की जीवनी पर आलोचना कर आगे कहा है कि, पार्श्वनाथ ने अग, वग और कलिग मे जैन धर्म का प्रचार किया था। ताम्रलिप्त बन्दरगाह से धर्म-प्रचार के लिए कलिग की ओर प्रस्थान किया था। कोप-कटक मे धन्य नामक एक गृहस्थ के घर से आहार-भोजन ग्रहण किया था। वसु महाशय के विचारो से यह कोप-कटक बालेश्वर जिले का आधुनिक कुपारी ग्राम है। ई० आठवी शताब्दी मे यही कुपारी ग्राम कोपारक गाव के रूप मे परिचित था, ऐसा भूमि से प्राप्त ताम्र-फलक से अवगत होता है।[1]

पार्श्वनाथ धन्य गृहस्थ के अतिथि बने थे। इस स्मृति को जीवित रखने के लिए कोप-कटक को धन्य कटक कहा जाने लगा। वसु महाशय ने और भी कहा है कि उस समय मयूरभज प्रदेश मे कुसम्ब नाम की एक क्षत्रिय जाति शासन कर रही थी। पार्श्वनाथ द्वारा सचालित धर्म मे वह राजवश अनुप्राणित हुआ था। वसु महाशय ने यह किस आधार पर कहा है, यह हमे ज्ञात नही है।

पार्श्वनाथ के बाद जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर का उद्भव हुआ था। आवश्यक सूत्र मे उल्लेख है कि भगवान महावीर ने तोषल प्रदेश मे आकर धर्म-प्रचार किया था और वहा सेवे मोषल राज्य मे गये थे—'ततो भगव तोसलिं गओ तत्थ सुभागहो नाम रट्टि ओपियमित्तो भगवओ से

---

1 Neulpur Copper Plate

मोएइ, ततो सामी मोसलि गओ'[1] हरिभद्र सूरी ने आवश्यक की टीका या वृत्ति लिखी है। उसे हारिभद्रिया वृत्ति कहा जाता है। हरिभद्र सूरी ने इस टीका मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ तत्कालीन तोषल राजा के बन्धु-मित्र थे और कलिंग राजा ने महावीर को अपने शासन मे धम-प्रचार के लिए आमन्त्रित किया था।[2]

स्वर्गीय जायसवाल ने कहा है कि सम्राट् खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख की चौदहवी पक्ति मे भगवान महावीर के कलिग मे आने की और कुमारी पर्वत से धर्म-प्रचार करने की सूचना मिलती है।[3]

जैन ग्रथ उत्तराध्ययन सूत्र[4] मे देखने को मिलता है, कि महावीर के समय मे कलिग एक जैन भूमि थी। कलिंग का पिहुण्ड नामक सुविख्यात बन्दरगाह उस समय जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ-क्षेत्र था। व्यवसायी वर्ग बहुत दूर देशो से व्यवसाय के लिए और कुछ-कुछ धर्म के लिए भी यहा आते थे। चम्पा राज्य से एक जैन व्यापारी पिहुण्ड बन्दरगाह पर आया था और वहा कुछ समय तक रहा भी था। उसने कलिग की एक सुन्दर स्त्री के साथ विवाह भी किया था। उत्तराध्ययन सूत्र मे इस बात का उल्लेख मिलता है। खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख मे जिस 'पिथुण्ड' का उल्लेख हुआ है, नि सन्देह वह 'पिहुण्ड' है, फ्रासीसी विद्वान सिलिवेन लेवी का ऐसा कहना है।[5]

खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख से भी यह प्राप्त होता है कि उनके बहुत पहले से 'पिहुण्ड' कलिग राजाओ द्वारा अधिकृत एक जैन तीर्थ-क्षेत्र था।

---

१ आवश्यक सूत्र, पृ० २१९-२०

२ Haribhadriya Vrittie (Agamodaya Samiti), pp 218 220
Also Vide J B O R S VIII, pp 223

३ J B O R S VIII p 246

४ उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० २७

५ I A 1956, p 145

इस विचारधारा से यह स्पष्ट सूचित होता है कि कलिंग पर जैन धर्म का प्रभाव पार्श्वनाथ के समय पडा था, और महावीर के समय मे (ई० पू० छठी शताब्दी) कलिंग विशेष रूप से इस धर्म द्वारा अनुप्राणित हुआ था। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के समय महापद्मनन्द ने कलिंग पर आक्रमण किया था। अपनी कलिंग-विजय के प्रतीकस्वरूप वह बहुत समय से जातीय देवता के रूप मे पूजित कलिंग 'जिन प्रतिमा' को अपनी राजधानी राजगृही मे ले गया था। यह आलोचना केवल पुराणो मे देखी जाती है, वैसी नही है। खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। इसलिए ई० पू० चतुर्थ शताब्दी मे भी जैन धर्म कलिंग मे राष्ट्रीय धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित रहा है, निसन्देह यह कहा जा सकता है।

ई० पू० तृतीय शताब्दी मे कलिंग पर एक अनहोनी विनाशकारी विपत्ति आ पडी। मगध सम्राट् अशोक ने कलिंग के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस युद्ध मे कलिंग के एक लाख व्यक्ति काम आ गये, डेढ लाख व्यक्ति बन्दी बनाये गये थे और लगभग उतनी ही सख्या मे स्त्री-पुरुष युद्ध के पश्चात फैलने वाली महामारी के कारण काल-कवलित हो गये। अशोक के साथ जिस कलिंग राजा ने यह तुमुल युद्ध लडा थ , वे एक जैन राजा थे, यह मेरा अपना दृढ विश्वास है। अशोक ने अपने तेरहवें अनुशासन (आदेश) मे यह गभीर दु खपूर्वक स्वीकार किया है कि कलिंग-युद्ध मे ब्राह्मण तथा श्रमण दोनो सम्प्रदायो (धर्मो) ने हानि उठाई थी। अशोक ने जिन्हे श्रमण कहा है, नि सन्देह वे जैन थे। अशोक कलिंग के भाग्य-विपर्यय पर आसू बहाकर रोये थे, यह सत्य है किन्तु नन्द राजा द्वारा आनीत 'जिन प्रतिमा' को वापस नही लौटा सके।

उनके बाद जिस समय कलिंग सतान खारवेल कलिंग सिंहासन पर आरूढ हुए थे, अपने शासनकाल के सतरहवें वर्ष मे मगध के विरुद्ध अभियान कर उस कलिंग जिन प्रतिमा को वे पुन लेकर आये थे।

अशोक के पश्चात् उनका पौत्र सम्प्रति मगध का राजा बना। जिस

तरह अशोक बौद्ध धर्म का समर्थन था, ठीक वैसे ही सम्प्रति जैन धर्म का।
कलिंग मे उनके शासनकाल मे जैन धम का अभ्युत्थान हुआ हो, यह सभव
जैसा लगता है। कलिंग मे मौर्य शासन के पश्चात् स्वतत्र चेदि वश का
अभ्युदय हुआ था। इसी चेदी वश के शासनकाल मे कलिग मे जैन धर्म
ने दूसरी वार राष्ट्रीय धम के रूप मे प्रतिष्ठा अर्जित की थी।

खारवेल इसी वश के तीसरे राजा होते हैं। उनका कार्य-कलाप और
जैन धम के प्रति उनके त्याग की उत्तरवर्ती अध्यायो मे विस्तृत रूप से
आलोचना की जाएगी।

कलिंग मे 'आदि (मौलिक) धम जैन धम' का वणन करते हुए
पार्श्वनाथ के जन्म से प्रारम्भ कर खारवेल तक की एक सक्षिप्त आलोचना
क्रमिक रूप से यहा प्रस्तुत की गई है। इसी आलोचना के सदर्भ मे अशोक
के समसामयिक कलिंग के जैन राजा तथा मौर्योत्तर युग के राजा खारवेल
की सूचना भी दी गई है। इसी आलोचना के सदर्भ मे जैन धर्म की प्राचीनता
का प्रतिपादन करने के लिए जाए तो मौर्य युग के बहुत पूर्ववर्ती कलिग के
एक जैन राजा के विपय मे वर्णन करना अप्रासगिक एव अविधेय नहीं
होगा। वे हैं कलिगराज करकण्डु। वे पार्श्वनाथ के पश्चात और
महावीर से पहले कलिग के राजा हुए थे, यह बात सुनिश्चित है। इसीलिए
किसी-किसी ने उन्हे पार्श्वनाथ के शिष्य के रूप मे भी स्वीकार किया है।[1]
उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन मे इनका उल्लेख मिलता है। इससे
जाना जाता है कि जिस समय द्विमुख पाचाल मे, नमि विदेह मे और नग्गई
गान्धार मे राज्य करते थे, उस समय करकण्डु कलिंग के राजा थे। इन
चारो राजाओ को उत्तराध्ययन सूत्र के लेखक ने पुरुप पुगव 'प्रत्येक बुद्ध'
की सज्ञा दी है।[2]

करकण्डु ने अपने पुत्रो को राज्य-भार सभलाकर स्वय जैन दीक्षा

---

१ Indian Culture, Vol IV, 319 FF

२ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८, गाथा ५ /८

ग्रहण की थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। बौद्धो ने भी राजा करकण्डु को एक 'प्रत्येक बुद्ध' कहा है और बुद्ध के पहले जितने व्यक्तियो के जन्म वे स्वीकार करते हैं उनमे करकण्डु का विशिष्ट स्थान है।[1] बौद्धो के कुम्भकार जातक से जाना जाता है कि करकण्डु की राजधानी दण्डपुर थी। अपने सेवको के साथ एक दिन राजा ने दण्डपुर के आम्रवन मे प्रवेश किया और फलो से लदे वृक्ष से एक पक्का आम तोडा और खाया, सब साथ वालो ने भी वैसा ही किया। राजा करकण्डु भावुक प्रकृति के थे। सब लोगो के आम तोडने से आम वृक्ष ध्वस्त-विध्वस्त हो गया। बलवान आम वृक्ष की इस ध्वस्तावस्था को देखकर भावुक राजा करकण्डु गभीर चिन्तन मे डूब गये, और अन्त मे यह निश्चय किया कि ससार का समस्त धन-वैभव दु ख का कारण है। ऐसा विचार कर वे ससार-त्यागी भिक्षु हो गये और 'प्रत्येक बुद्ध' के रूप में विख्यात हो गए।

यह करकण्डु के सम्बन्ध मे बौद्ध मान्यता है। जैनो ने 'करकण्डुचरिया' नाम से एक काव्य का प्रणयन किया है। 'अभिधान राजेन्द्र कोष' मे भी करकण्डु के सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन मिलता है। जैन ग्रन्थ से उपलब्ध उपाख्यान का विस्तृत वर्णन आगे दिया जा रहा है।

---

१ Fousball's Jataka No 3, p 376

करकण्डु उपाख्यान

•

चम्पा नगरी मे दधिवाहन नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। वह महाराजा चेटक की पुत्री थी। रानी गर्भवती हुई। उसे दोहद (गर्भवती स्त्री की अभिलाषा) उत्पन्न हुआ। वह वडा विचित्र था। रानी उसे कहने में सकोच अनुभव कर रही थी। राजा ने अनेक वार जानने का प्रयास किया पर वह उससे छिपाये रखा। रानी का शरीर दिन-प्रति-दिन चिन्ता से दुर्वल होने लगा। राजा ने वहुत आग्रह किया, तव उसने एक दिन कहा कि गर्भकाल मे मुझे यह इच्छा उत्पन्न हुई है कि 'मैं आपके साथ पुरुष-वेश मे हाथी पर वैठकर वन-विहार के लिए जा रही हू, आप मेरे पीछे छत्र धारण किये हुए वैठे हैं।' राजा दधिवाहन ने यह सोच-कर कि 'गर्भवती की समस्त इच्छाए पूर्ण होनी चाहिए, यह चिकित्साशास्त्र द्वारा अनुमोदित है' इसे स्वीकार कर लिया।

अपने पट्टहस्ति पर राजा दधिवाहन ने रानी को आगे वैठाया, स्वय हाथ मे छत्र लेकर पीछे वैठ गए और वन की ओर चल पडे। राजा और रानी ने जैसे ही वन में प्रवेश किया, वर्षा आरम्भ हो गयी। दीर्घकालीन गर्मी के वाद प्रथम वर्षा की आर्द्रता के कारण मिट्टी से एक प्रकार की सुगन्ध निकलने लगी और मलय पवन के कारण वन मे चारो ओर जो नाना प्रकार के पुष्प थे उनकी सुगन्ध भी फूट पडी। प्राय वाल्यकाल से विस्मृत मातृभूमि

के प्रशान्त दृश्य ने हाथी के मन मे झकार उत्पन्न कर दी। वर्षा के प्रारम्भ मे मिट्टी की गन्ध को सूघकर हाथी उन्मत्त हो उठते हैं। उस क्षेत्रीय आमोद-प्रमोद की स्मृति मात्र से हाथी के गड स्थल से मदधारा प्रवाहित होने लगी, जिससे वह घने जगल मे तेजी के साथ दौडने लगा। सैन्य और सामन्त वर्ग उसे काबू मे नही कर सके। असुरक्षित राजा ने प्राणरक्षा का कोई दूसरा उपाय न देखकर रानी से सामने के वटवृक्ष की शाखा पकडने को कहा। राजा ने जैसे ही वृक्ष निकट आया, शाखा पकडकर अपने प्राण बचा लिए, किन्तु गर्भवती रानी भय के कारण वृक्ष की शाखा पकड नही सकी।

हाथी पद्मावती को अपनी पीठ पर लिए वन के अन्त प्रवेश मे चला गया। दधिवाहन के सम्मुख भविष्य की अतर्कित विपत्ति से रानी की रक्षा करने का कोई मार्ग नही था। वे बडे दु खी हृदय से सेना और सामन्त वर्ग के साथ चम्पानगर मे वापस लौट आये।

हाथी रानी को पीठ पर लिए दौडता-दौडता क्लान्त हो गया था। उसने एक तालाब देखा। जल पीने और क्रीडा करने की इच्छा से वह जैसे ही उसमे प्रविष्ट होने लगा, रानी हाथी की पीठ से नीचे खिसक पडी और सकुशल किनारे पर पहुच गयी। रानी ने दृष्टि उठाकर देखा तो चारो ओर झाडियो से सकुल, भयावह और सुन्दर पर्वतमाला के बीच अपने आपको अकेला पाया। भय-विह्वल रानी पद्मावती अपने को सान्त्वना दे भगवान को नमस्कार कर वहा से चली। चलते-चलते एक तापस से भेंट हो गयी। रानी ने उसे प्रणाम किया। उसने कहा—"डरो मत। तुम कौन हो, अपना परिचय दो ?" रानी ने तपस्वी की निर्विकारता और पवित्रता को देखकर उसे समस्त वृत्तान्त सुना दिया। तपस्वी ने अपना परिचय इस रूप मे दिया कि "मैं चेटक राजा (पद्मावती के पिता) का मित्र हू।" तपस्वी ने उसे धैर्य बधाते हुए कहा—"यह ससार अनित्य है और विपत्ति का घर है। इसलिए ससार मे उत्पन्न समस्त पदार्थों की अनित्यता को समझकर अपनी आशाओ को चारो ओर बढाने की अपेक्षा सयमित करना अच्छा है।

वर्तमान आश्रम मे जाकर क्लान्ति दूर करो।" वह आश्रम में आ गयी। वहा फलाहार किया और स्वस्थ होने के बाद तपस्वी ने आश्रम की सीमा तक छोडकर उसे विदा दी। तपस्वी के निर्देशानुसार वह दन्तपुर की ओर चल पडी। मार्ग मे रानी का साक्षात्कार एक जैन साध्वी से हो गया। साध्वी उसे दन्तचक्र राजा के अन्तपुर मे ले गयी। वहा उसका परिचय पूछा। रानी ने अपनी समस्त घटना बता दी, किन्तु गर्भ धारण की बात को गुप्त रख लिया। साध्वी ने रानी के शोकाकुल मन को सात्वना देते हुए कहा—'सासारिक सुख वास्तविक सुख नही है, वह केवल सुखाभास है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सासारिक दु खो से मुक्त होने के लिए त्याग-मार्ग का अवलम्बन लेकर अध्यात्म-चिन्तन करना चाहिए।"

साध्वी के सदुपदेश से रानी पद्मावती का मन विरक्त हो गया। उसने उसी समय उनके पास दीक्षा ग्रहण कर ली। किन्तु व्रत-विघ्न के भय से गर्भ के विषय मे उसने कुछ नहीं कहा। महीने के बाद गर्भ के विकास को देखकर साध्वी ने पूछा—"यह क्या है ?" पद्मावती ने कहा—"यह गर्भ मेरे पहले से रहा हुआ है। मैंने व्रत टूटने के भय मे कहा नही।"

लोकापवाद के भय के कारण साध्वी ने एकान्त स्थान मे उसकी व्यवस्था करा दी। यथासमय पुत्र उत्पन्न हुआ। रानी ने उत्पन्न होते ही बच्चे को रत्न कम्बल से ढककर पिता के नाम की अगूठी पहनाकर श्मशान मे छोड दिया। श्मशान का स्वामी 'जन सगम' चाडाल था। बच्चे को देख-कर उसने उठा लिया और अपनी नि सन्तान पत्नी को दे दिया।

पद्मावती ने इस प्रकृत घटना को जानते हुए भी साध्वी के पास आकर यह सवाद दिया कि 'मृत' पुत्र हुआ है।

बालक बडा अलौकिक और तेजस्वी था। उसका नाम दत्ताप कर्णिक रखा गया। जन सगम के घर मे वह बढने लगा। मा पद्मावती भिक्षा का आदेश लेकर वहा जाती। अदृश्य रहकर बालक की गतिविधि का ध्यान रखती और चडालिनी के साथ भी समय-समय पर मधुर सभाषण करती रहती। दत्ताप कर्णिक दिन-प्रति-दिन महान द्युति से शोभित होने लगा।

पडोसी बालको के साथ वह खेलने भी लगा।

गर्भ मे आने के दिन से ही बहुत शाक आदि भोजन करने के कारण उस बालक को खुजली का रोग हो गया। अपनी चेष्टा और सहयोगी खिलाडियो द्वारा शरीर को खुजलवाने के कारण लोगो ने उसका नाम करकण्डु रख दिया। पद्मावती प्रतिदिन पुत्र-दर्शन की आशा से चडालिनी के घर आती और भिक्षा मे लब्ध मिष्ठान्न आदि करकण्डु को देती थी।

जब वह छ वर्ष का हो गया, तब पिता ने उसे श्मशान कार्य मे नियोजित कर दिया था। एक दिन जब वह अपने कार्य पर नियुक्त था, उस समय एक मुनि ने उसी श्मशान मे स्थित एक शुभ लक्षण युक्त बास की ओर सकेत कर कहा—"जो जड से चार अगुल प्रमाण इस लबे बास को अपने पास रखेगा वह निश्चित ही राजा बनेगा।" साधु की इस बात को करकण्डु और एक ब्राह्मण ने सुना, दोनो मे उस बास को लेने के लिए झगडा होने लगा। कलह-निवारण के लिए दोनो नगर-अध्यक्ष के पास गये। नगर अध्यक्ष ने कहा—"बालक करकण्डु, तुम इस बास का क्या करोगे ?" बालक द्वारा बास की विशेषता सुनकर नगर-अध्यक्ष ने हसते हुए कहा—"अच्छा जाओ, जब तुम राजा बनो तब इस ब्राह्मण को एक गाव दे देना।" करकण्डु ने भविष्य की अपेक्षा नही की। वह वापस श्मशान मे लौट आया। ब्राह्मण ने उसकी हत्या की साजिश की, पर सफल नही हो सका। जन सगम को जब इस षड्यन्त्र की जानकारी हुई तो वह अपनी पत्नी और करकण्डु को लेकर कचनपुर चला आया।

कचनपुर के राजा की मृत्यु हो गयी थी। मन्त्रियो ने शुभकार्य मे प्रयुक्त होने वाले घोडे को सज्जित किया। करकण्डु को देखकर घोडा हिनहिनाने लगा। शुभलक्षण युक्त करकण्डु को देखकर लोग जय-जयकार करने लगे। वाद्य भी अपने आप निनादित हो उठे, राज्यछत्र अपने आप मस्तक पर स्थित हो गया। मन्त्रियो ने राजकीय वेशभूषा से विभूषित कर सम्मान प्रकट किया, किन्त ब्राह्मण लोग करकण्डु को चाडाल जानकर क्षुब्ध हो उठे। बालक करकण्डु ने यह देखकर रत्न सदृश उस बास के दण्ड को हाथ मे लिया,

उसी समय देवताओ ने पुष्प-वृष्टि कर उसके राजा होने की घोषणा की, और ब्राह्मणो ने भी उसे आशीर्वाद दिया। करकण्डु ने कहा, "हे ब्राह्मणो ! चाडाल आप द्वारा सदा निन्दित रहे हैं। इसलिए वाटधान ग्राम के चाडालो का सस्कार कर उन्हे ब्राह्मण बनाया जाना चाहिए। ब्राह्मण सस्कार से ही ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, जाति से नही।" इसके बाद उन ब्राह्मणो ने बहुत सत्रस्त होकर वाटधान ग्राम के चाडालो को ब्राह्मण बनाया। कचनपुर मे बडे उत्साह के साथ करकण्डु ने प्रवेश किया। मन्त्रियो ने राज्यभिषेक किया। इस प्रकार करकण्डु क्रमश महाप्रतापी हुआ।

करकण्डु का यश फैलने लगा। एक दिन उस ब्राह्मण ने सुना कि करकण्डु राजा हो गया है। एक गाव पाने की आशा मे वह कचनपुर आया। करकण्डु ने ब्राह्मण से पूछा—"बोल, तेरी क्या इच्छा है ?"

ब्राह्मण ने कहा, "मैं चम्पानगरी मे रहता हू। मेरी इच्छा है मुझे वही एक गाव दे दिया जाये।"

करकण्डु ने यह सुनकर राजा दधिवाहन के पास एक ग्रामदान करने के लिए पत्र लिखकर दूत के हाथ भेज दिया। पत्र पढकर राजा दधिवाहन तिलमिला उठे और तिरस्कारपूर्ण वाणी मे बोले, "गीदड के समान इस म्लेच्छ करकण्डु ने सिंह के समान दधिवाहन के प्रति धृष्टतापूर्ण व्यवहार किया है, इसलिए यह मेरा तलवार रूपी तीर्थस्थान उसकी शुद्धि करेगा।" राजा दधिवाहन द्वारा तिरस्कृत दूत करकण्डु के पास आया और जैसा वहा घटा वैसा सब सुना दिया। राजा करकण्डु भी अपने प्रति कहे गये अपशब्दो को सुनकर क्रुद्ध हो उठे और सेना-सहित चम्पानगरी पर चढाई कर दी। दधिवाहन भी सग्राम के लिए सन्नद्ध हो गये। दोनो पक्षो की सेना सज्जित होकर जिस समय आमने-सामने आ गयी, ठीक उसी समय साध्वी पद्मावती करकण्डु के निकट आकर बोली— 'पुत्र ! तुम्हारा अपने पिता के साथ युद्ध करना अनुचित है।" उसने पूछा—"दधिवाहन मेरे पिता कैसे हुए ?" पद्मावती ने समस्त जीवन-वृत्तात उसके समक्ष रख दिया। साध्वी पद्मावती को अपनी माता और दधिवाहन को अपना पिता जानकर करकण्ड बहुत

प्रसन्न हुआ। किन्तु अहकार के कारण राजा दधिवाहन को नमस्कार करने मे आनाकानी करने लगा।

पद्मावती वहा से चलकर राजा दधिवाहन के पास गयी। उसने गर्भावस्था के वाद के गुप्त भेद को राजा के सामने प्रकट किया और कहा—"करकण्डु आपका पुत्र है।" यह वात सुनकर राजा हर्षोद्वेलित हो उठे। वे स्थिर नही रह सके। सीधे करकण्डु के पास पहुचे। उसका आलिगन किया और स्नेह से मस्तक सूघा।

राजा दधिवाहन ने हर्षाश्रुओ के जल से पुत्र का राज्याभिषेक कर दोनो राज्य उसे समर्पित कर दिये। वे वृद्ध हो गये थे, इसलिए शेष जीवन आध्यात्मिक साधना मे विताना चाहिए, यह सोचकर वे दीक्षित-श्रमण हो गये। राजा करकण्डु ने अपनी राजधानी चम्पानगरी वनायी और दोनो राज्यो का पालन करने लगा।

उन्हे गोकुल से प्रेम था। सुन्दर आकृति मे शोभित और विविध वर्णो के वहुसख्यक गोकुल का निरन्तर दर्शन कर वे वहुत आनन्दित होते थे। एक दिन की घटना है कि उन्होंने स्फटिक-तुल्य सफेद गायो के वीच मे एक वछडे को देखा। ग्वालो को वुलाकर कहा—"इस वछडे को दूध पर रखो, दूध पिलाकर इसका पालन करो।"

एक दिन पुन राजा वहा गये। उन्होने उसी वैल को मेघ के समान गर्जना करते हुए और दूसरे वैलो को भयभीत करते हुए देखा। फिर भी राजा की दृष्टि मे वह दूसरो से कम नही हुआ। राजा की श्रद्धा और प्रीति पहले की तरह ही रही। राजा अपने राज्य-कार्य मे वहुत व्यस्त रहे, इसलिए वहुत लम्वे समय तक गोकुल को देखने के लिए नही आ सके। कुछ दिन वाद उनकी इच्छा हुई। वे वहा आये और अपने प्रिय वैल के सम्वन्ध में पूछा—"वह कहा है? कैसा है?" ग्वालो ने जरा-जीर्ण शरीर, दन्त-शून्य, शक्ति-हीन, शिथिल-चर्म और कृशाङ उस वैल को सामने खडा कर दिया।

राजा करकण्डु उसे देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होने यह जान लिया कि ससार की स्थिति (भावदशा) वडी विचित्र है। उन्होने मन-ही

मन सोचा—'यह बैल पहले की सुन्दरता और बलवत्ता को छोडकर बूढा हो गया है। इसी प्रकार ससार में सभी मनुष्य पूर्व-पूर्व अवस्थाओ को छोडकर नई-नई अवस्थाए प्राप्त करते हैं। विश्व प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील विश्व से मुक्त होना ही सबके जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।' राजा प्रबुद्ध हो गया। गोशाला में खडे-खडे ही उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया।

राजा करकण्डु ने उसके बाद जैन धर्म ग्रहण कर लिया। जैन धर्म का अर्थ है—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र से सम्पन्न होना। पूर्वजन्म क शुभ सस्कारोदय के कारण ज्ञान प्राप्त (प्रबुद्ध हो) कर शासन देवता द्वारा प्राप्त वेश को धारण कर श्रमण बन गए। कहा है

श्वेत सुजात सुविभक्त-श्रृग, गोष्ठाङ्गणे वीक्ष्य वृष जरार्त्तम्।
ऋद्धिञ्च वृद्धिञ्च समीक्ष्य बोधात्, कलिग राजर्षि रवाप धर्मम्।

इति करकण्डु चरितम्।

खारवेल का काल-निर्णय

•

खारवेल उत्कल इतिहास तथा भारतीय इतिहास के एक अविस्मरणीय व्यक्ति है। उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाए हाथीगुफा शिलालेख मे वहुत अच्छे ढग से लिपिबद्ध होकर रही हुई है। किन्तु खारवेल के समय-निर्धारण की समस्या का समाधान वर्तमान भारतीय इतिहास नही कर सका। ऐतिहासिको के लिए प्रमुख रूप से चिन्तन और आलोचना की विषयवस्तु यही है। भारतीय इतिहास मे इस समय-निर्धारण ने अनेक समयो मे अनेक प्रकार से सदेहो की सृष्टि की है। इसलिए साहित्य अथवा जनश्रुतियो से इस समस्या का समाधान करने के लिए उपादेय विपयो का मग्रह करना धृष्टता मात्र है। कारण, यह इसे और जटिल वना देता है। तथापि वहुत सावधानी के साथ साहित्य तथा जनश्रुति आदि से आवश्यक सामग्री का स्वीकार किया जा सकता है।

खारवेल का वास्तविक समय क्या है, इसका निर्धारण करने के लिए वहुत वर्षों पहले से ही ऐतिहासिक विद्वानो के बीच विवाद चलता रहा है। उडीसा के पुरी जिले मे स्थित कुमारगिरि के हाथीगुफा शिलालेख से ही केवल हमे सम्राट खारवेल का परिचय मिलता है। उस शिलालेख मे उनके तेरह-वर्षीय शासनकाल का इतिहास क्रम-बद्ध रूप से वर्णित है। उसमे उन्हे अधिपति और उनकी प्रधान रानी को 'अग्रमहिषी' कहा है। अग्रमहिपी

द्वारा निर्मित 'स्वर्गपुरी' गुफा मे खारवेल को 'चक्रवर्ती' सम्बोधित किया गया है। इतिहास खारवेल के पूर्वजो के विषय मे मौन है। इस सम्बन्ध मे कही से भी किसी प्रकार की कोई जानकारी नही मिलती है। उनके वश का परिचय और माता-पिता के नाम का उल्लेख भी कही पर नही है। उनके समय-निर्धारण मे ये बातें मुख्य रूप से बाधक हैं। शिलालेखो मे इस प्रकार के किसी सवत्सर का भी उल्लेख नही है, जो हमारी कठिनाई दूर कर सके। इसलिए खारवेल के समय को स्थिर करने के लिए हाथीगुफा शिलालेख मे वर्णित विषयो की हमे पर्यालोचना करनी होगी।

प्राचीन ऐतिहासिक विद्वानो मे पडित भगवानलाल इन्द्रजी माने हुए विद्वान हैं। उन्होने पहले ही निश्चित किया था कि हाथीगुफा शिलालेख खारवेल के शासन के तेरहवें वर्ष मे लिखा गया था। हाथीगुफा शिलालेख मे सिर्फ 'मौर्यकाल' का उल्लेख है, ऐसा स्थिर कर उन्होंने खारवेल के शासनकाल के इस त्रयोदश (तेरहवें) वर्ष को मौर्यकाल का १६५ वर्ष है ऐसा मत पुष्ट किया है।[1] यदि यह सत्य है तो मौर्यकाल का यह १६५ वर्ष ई० पू० ९० के साथ समान होगा। कारण, इन्द्रजी ने अशोक के कलिंग-विजय का समय ई० पू० २५५ मानकर उसे मौर्यकाल के प्रथम वर्ष के रूप मे ग्रहण किया। उसके फलस्वरूप खारवेल का सिंहासनारोहण ई० पू० १०३ मे (ई० पू० २५५—१६५+१३=ई० पू० १०३) हुआ हो, उनका ऐसा विश्वास है।[2]

किन्तु डॉ० फ्लिट[3] ने प्रोफेसर लुडारस[4] के मत का अनुसरण कर मौर्यकाल के उपस्थित सम्बन्ध मे विरुद्ध मत दिया है। वे कहते हैं कि हाथीगुफा शिलालेख मे अथवा भारतीय इतिहास मे मौर्यकाल के प्रचलन-

१ Proceeding of the International Congress of Orientalists Legde. 1884

२ Ibid

३ J R A S 1910, 242 ff 824 ff

४ Ep Indica, Vol X, pp 1601, No 1345

सम्बन्ध मे कोई सत्यता नही है। इसके सिवाय उन्होंने शिलालेख की छठी पक्ति मे लिखित 'तिवस-सत' को १०३ वर्ष के रूप मे स्वीकार कर अन्तिम नन्दराजा का शेष शासनकाल ई० पू० ३२२ के रूप मे अनुमान कर उन्होंने कलिंग सिंहासन पर खारवेल को ई० पू० २२४ मे (ई० पू० ३२२—१०३ + ५=ई० पू० २२४) अधिष्ठित किया है।

इन्द्रजी के 'मौर्यकाल' मार्ग को डॉ० स्टेनकोना, डॉ० जायसवाल और प्रो० राखालदास बनर्जी[1] ने पहले स्वीकार किया था, किन्तु बाद मे शिलालेख के विस्तृत एव आमूल-चूल गभीर अध्ययन के फलस्वरूप अपने विचारो को परिवर्तित कर मौर्यकाल के उल्लेख को अस्वीकार कर दिया।

प्रोफेसर बनर्जी[2] ने खारवेल के जीवन की कतिपय घटनाओ को स्वीकार कर उन्हे ई० पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध का प्रमाणित करने का प्रयास किया था। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने का है कि डॉ० जायसवाल ने खारवेल और ग्रीक राजा डिमेट्रियस आपस मे समसामयिक है, ऐसा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था।[3] उनके अभिमत से सुगवश के प्रथम राजा पुष्पमित्र (बृहस्पति मित्र) भी खारवेल और डिमेट्रियस के समसामयिक हैं। बनर्जी ने डॉ० जायसवाल के इस मत का पूर्णत समर्थन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खारवेल के समय-निर्धारण मे ऐतिहासिक विद्वानो ने दो प्रकार के मत रखे हैं। 'मौर्यकाल' के आधार पर इन्द्रजी एव 'मौर्यकाल' को अस्वीकार कर डॉ० जायसवाल और प्रोफेसर बनर्जी आदि ने अपना मत प्रकट किया है।

किन्तु शिलालेख के विस्तृत चिन्तन के फलस्वरूप 'मौर्यकाल' के विद्यमान सपर्क मे अब सभी असदिग्ध हैं। शिलालेख के उसी अश को

---

१ Acta Orientalia No 1, 1923, p 12 ff

२ Ep Indica, Vol X, p 83 ff

३ J B O R S XIV, 1928

'मुख्य कला' के रूप मे पढना अधिक युक्तियुक्त है। मुख्य कला के अर्थ का विश्लेपण करते हुए डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने प्रधान कला किया है।[१] किन्तु यथार्थ दृष्टि से विचार करने पर हमे यह अप्रासगिक मानना होगा कि खारवेल ई० पू० द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्द्ध मे कलिग के सम्राट् थे। उस दृष्टि से डॉ० हेमचद्र राय चौधुरी[२], डा० दिनेशचन्द्र सरकार,[३] डॉ० वरुआ[४], प्रोफेसर नगेन्द्रनाथ घोष[५] इत्यादि ने खारवेल का यथार्थ समय ई० पू० प्रथम शताब्दी का शेपार्द्ध ही है, ऐसा स्थिर किया है।

हाथीगुफा शिलालेख मे कई शासको के नाम उल्लिखित हुए है। यदि उनके समय का निरूपण किया जाये तो हमारी समस्या बहुत अशो मे समाहित हो सकती है। इसलिए पहले हम यहा पर खारवेल के समसामयिक कुछेक राजाओ का समय-निरूपण करते हैं।

खारवेल ने शासनकाल के दूसरे वर्ष मे राजा सातकर्णी के प्रति भू-विक्षेप न कर पश्चिम दिशा मे सेना को प्रवृत्त किया था। राजा सातकर्णी निश्चित ही आन्ध्र सातवाहन वश के राजा थे। नानाघाट शिलालेख मे जिस सातकर्णी का उल्लेख हुआ है, वे रानी नायनीका के स्वामी थे।

पौराणिक वर्णन और डॉ० राय चौधुरी[६] के मतानुसार सुग राजाओ ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण के २३७ वर्ष बाद ११२ वर्ष शासन किया था। राजा देवभूति के अमात्य वासुदेव ने राजा की हत्या कर सुग वश का अन्त किया और काण्वायन वश के प्रतिष्ठाता के रूप मे उसने मगध पर अधिकार किया। ४५ वर्ष की दीर्घ अवधि के बाद इसी काण्वायन वश का अन्त सिमुक ने राजा सुशर्मण का बहिष्कार कर किया। आन्ध्र सातवाहन

---

१ Selicko Inscriptions I D D C Sircar,

२ P H A I 1950 Edition, p 374 ff

३ Age of Imperial Unity 215 ff

४ Old Brahmi Inscription 1917, 253 ff.

५ Early History of India 1948, pp 189-199

६ Indian Antiquary, Vol XL VII (1916), 403 ff

वश की मूल-भित्ति सिमुक से ही स्थापित हुई। इन पौराणिक जनश्रुतियो को स्वीकार कर डॉ० जायसवाल ने कहा है कि ई० पू० ३० समय मे (ई०पू० ३२४—१३७—११२—४५=ई०पू०३०)[१] सिमुक ने मगध पर अधिकार कर लिया था। सिमुक के बाद १८ वर्ष कृष्ण ने शासन किया था और उसके पश्चात सातकर्णी सिंहासनाधिष्ठित हुए थे। यदि ई० पू० ३० को हम सिमुक का अन्तिम वर्ष मानें तो सातकर्णी के सिंहासनारोहण का समय ई० पु० १२ प्रमाणित होता है (ई० पू० ३०—१८=ई० पू० १२)। यदि यह समय सत्य है तो खारवेल के शासनकाल का वह द्वितीय वर्ष था अर्थात् ई० पू० १४ मे खारवेल कलिंग के सम्राट हुए थे।[२]

वृहस्पति मित्र

खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख से पता चलता है कि शासनकाल के बारहवें वर्ष मे उन्होंने मगधाधिपति वृहस्पति मित्र को युद्ध मे परास्त किया था। 'मगधच राजान वृहस्पतिमित पादे, दन्तापयति'[३] हाथीगुफा शिलालेख के सिवाय दूसरे शिलालेखो मे भी पाच वृहस्पतियो के नामो का उल्लेख देखने मे आता है।

१ मथुरा के निकट स्थित मोरा नामक गाव के एक शिलालेख मे वृहस्पति मित्र के नाम का उल्लेख हुआ है। इन्ही वृहस्पति मित्र की पुत्री का नाम यशमिता था।[४]

२ इलाहाबाद के निकटस्थ पारोसा शिलालेख से हमे जिस वृहस्पति मित्र के मम्बन्ध मे जानकारी मिलती है, उनके मामा थे आषाढसेन।[५]

३ कौसाम्बी से मिलने वाली मुद्राओ के आकार-प्रकार से भी हम

---

१ Age of Imperial Unity, pp 19ɔ ff

२ O H R I, Vol II, No 2 p. 86

३ Hathigumpha Inscriptions, line-12

४ Vogel J R A S 1912, Part II, p 120

५ Ep Indica Vol II, p 241

कम से कम दो वृहस्पति मित्र के होने का अनुमान कर सकते हैं।[१]

४ दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रन्थ के एक उपाख्यान से पता चलता है कि वृहस्पति नाम के एक मौर्य शासक थे और वे अशोक के पौत्र सप्रति के उत्तराधिकारियो मे से सवश्रेष्ठ थे।[२]

५ डॉ० राय चौधुरी का कहना है कि काण्व वश के बाद मालूम होता है कोई एक मित्र वश मे वृहस्पति मित्र नाम के राजा थे।[३]

सुग वश के प्रतिष्ठाता पुष्यमित्र सुग खारवेल के समसामयिक हैं, ऐसा सोचकर डॉ० जायसवाल ने खारवेल के सिहासनारोहण का समय ई०पू० १८२ स्थिर किया है।[४] इस बात की सत्यता पूर्णतया इस प्रमाण पर निर्भर है कि हाथीगुफा के वृहस्पति मित्र पुष्यमित्र सुग हैं।

डॉ० भोगेल[५], डॉ० जायसवाल[६] और रेप्सन[७] ने अपना अभिमत प्रकट किया था कि मोरा एव पारोसा के शिलालेखो मे जिन दो वृहस्पति मित्रो के उल्लेख किये गये हैं, वे दोनो अलग-अलग नही, एक हैं। कारण, उक्त शिलालेख जिन प्रदेशो मे मिले हैं वहा सुग वश का अखण्ड शासन था।

किन्तु डॉ० आभान ने इसे स्वीकार नही किया है। उन्होंने परीक्षा करके अवलोकन किया है कि मोरा शिलालेख की लिपि पारोसा की लिपि की अपेक्षा निश्चित रूप से बहुत प्राचीन है। इसलिए दोनो वृहस्पति मित्र के बीच मे अन्तर होना बहुत स्वाभाविक है।

और भी हम इन वृहस्पति मित्रो के साथ दिव्यावदान के वृहस्पति की कोई समानता होने का भी अनुमान नही कर सकते हैं। कारण, दिव्यावदान

---

१ E C A I, London, pp X C VI (Kosambi Coin)

२ J B O R S II '6 III 480 Dr B M Barua O B I, p 243ff

३ P H A I, p 401

४ J B O R S III p 236 245

५ J R A S 1912 p 120

६ J B O R S 1919, p 473 80

७ Cambridge History of India, Vol I, p 524 26

के वृहस्पति को मौर्यवश का राजा कहा गया है। डॉ० जायसवाल भी इसमे पूर्णतया एकमत हैं। उन्होने कहा है—

This Brihaspati[1] can not be indentified with the Brihaspati Mitra of the inscription for two reasons Mitra is not the member of the name of the Mauryaking Nor would the letters of the inscription warrant on going back to B C 203 Further, in that case the inscription would not be dated in the year of the founder of the fam ly of the vanquished rival

इसलिए डॉ० राय चौधुरी एव डॉ० वरुआ ने हाथीगुफा शिलालेख के वृहस्पति मित्र को दूसरे किसी वश का स्वीकार किया है, जिस वश की सज्ञा थी मित्र, एव इसी वश के राजा ई० पू० के ठीक अव्यवहित पूर्व मगध मे शासन करते थे। डॉ० राय चौधुरी का समर्थन कर डॉ० वरुआ ने लिखा है कि—

"We must still hold to Dr H C Ray Chaudhury's theory of a Neo-Mitra dynasty reigning in Magadha from the termination of the rule of the Kanwas in the middle of the first century B C and regard Indragni Mitra and Brihaspati Mitra as the immediate predecessor of King Brihaspati Mitra, who was the weaker rival and contemporary of Kharavela"[2]

यदि यह है तो खारवेल को ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्तिम का कहना बिलकुल भ्रमात्मक नही है।

---

१ J B O R S III, p 480 ff

२ Gaya and Bodhgaya, Vol II, pp 1934-74

यवनराज दिमित

डॉ० जायसवाल ने शिलालेख की आठवी पक्ति मे यवनराज दिमित के लिखित होने का अनुमान पहले किया था।[१] प्रोफेसर बनर्जी एव स्टेन-कोना[२] ने इसी अनुमान को मान्य किया था। किन्तु बाद मे इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिको के मध्य सन्देह का सर्जन हो गया था। डॉ० हार्ण के मत ने इसे पूर्णतया काल्पनिक घोषित कर दिया था।[४]

डॉ० बरुआ ने भी इसे पूर्णत अस्वीकार किया है।[५] उन्होंने कहा है कि शिलालेख के जिस अश को यवनराज के रूप मे पढा गया है, उसी अश का पाचवा अक्षर 'ज' नही, 'त' है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने कहा है कि उस अश मे 'यवनराज' शब्द बहुत स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है, किन्तु 'दिमित' के उल्लेख-विषय में वे सदिग्ध हैं।[६]

"पचमेंच दातवसे नन्दराज-तिवस-सत ओघाटित।
तन सुलीय वाटा पणाडिम नगर पवेशयति'

इसी तिवस-सत को केन्द्र-विन्दु मानकर ऐतिहासिको ने नाना प्रकार की आलोचनाओ का सिलसिला जारी रखा है। फिर उन्होंने उस पद के अर्थ को भी भिन्न-भिन्न रूप से स्वीकार किया है। पडित भगवानलाल इन्द्रजी ने 'सत' को सतर के रूप मे पढकर उसे 'सत्र' ऐसा स्वीकार किया था। He opened the three yearly alms house of NandraJ

किन्तु प्रोफेसर लुडार्स ने उसे पढकर पूर्णत एक दूसरी दिशा मे उसकी

१ J B O R S XIII, pp 221, 228

२ A S of India 1914-15

३ Acta Orientalia 1923, p 27

४ Greeks in Bactria and India 457 ff

५ Old Brahmi Inscriptions, p 187 Select Inscriptions, Vol I, p 208

६ International Oriental Congres Proceedings 1884

आलोचना का मार्ग सुगम कर दिया।[१] उनके मत से 'तिवस-सत' का अर्थ १०३ वर्ष है। डॉ० जायसवाल और बनर्जी ने 'तिवस-सत' को पहले ३०० वर्ष के अर्थ मे स्वीकार किया था। बाद मे उसे अस्वीकार कर प्रोफेसर लुडार्स की विचारधारा को स्वीकार कर लिया।[२]

डॉ० जायसवाल ने पहले यह विचार किया था कि अल बारुणि ने अपनी पुस्तक तकिक्इ हिन्द मे जिस नन्द सवत्सर का उल्लेख किया है, हाथीगुफा शिलालेख का 'तिवस-सत' उसी के अनुसार लिखा गया है।[३] पाजिटर की गणना के अनुसार प्रथम नन्द ई० पू० ४०२ मे सिंहासनारूढ हुए थे। ऐसा होने पर ई० पू० २९९ मे (ई० पू० ४०२—१०३ (तिवस-सत) = २९९ ई० पू०) नन्द राजा ने कलिग मे जिस नहर का निर्माण कराया था, उससे यह समझना चाहिए कि उसका पुनरुद्धार हुआ था। किन्तु यह सर्वथा असभव है। कारण, ई० पू० ३२२ से ई० पू० १८९ तक मौर्यों का भारत मे अप्रतिहत शासन था।

प्रोफेसर राखालदास बनर्जी ने भी एक भ्रान्त धारणा के वशवर्ती होकर कहा था कि नन्दवश के प्रथम राजा ने खारवेल सिंहासनारोहण के १०८ (१०३+५) वर्ष पहले कलिग मे नहर का निर्माण कराया था। उनके मत से नन्द सवत्सर का आरम्भ हुआ था ई० पू० ४५८ मे और नहर-निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ था ई० पू० ३५५ (४५८—१०३) मे। किन्तु अध्यापक बनर्जी ने यहा १०३ वर्ष को नन्द राजा और खारवेल के बीच मे विद्यमान समय की दूरी के रूप मे ग्रहण न कर नन्द वश के शासन-काल के मध्य मे किसी समय का व्यवधान है, ऐसा स्वीकार किया है।

किन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर अध्यापक बनर्जी की गणना सम्पूर्णतया निराधार प्रतीत होती है। नन्द सवत्सर के सम्बन्ध मे विशेषकर

---

१ Ep Ind , Vol X, App No 1345, p 161

२ J B O R S III 1917 ,425 ff

३ Ep Ind XX , 71 ff

४ J B O R S XIII 238

कोई सुदृढ प्रमाण नही मिलने से डॉ० जायसवाल और वनर्जी के मतामत को कभी भी स्वीकार नही किया जा सकता।

इसलिए 'तिवस-सत' को ३०० वर्ष के रूप मे स्वीकार करना अधिक सगत लगता है। पौराणिक किंवदन्ती के अनुसार खारवेल के समसामयिक सातकर्णी ने भी नन्द शासन के प्राय ३०० वर्षो के वाद शासन ग्रहण किया था, ऐसा जाना जाता है। (मौर्यों के १३७ वर्ष+सुगो के ११२ वप+ काण्वो के ४५ वर्ष=२९४)।[1] नन्दवश के पतन के २९४ वर्षो के वाद आन्ध्र सातवाहन वश का अभ्युदय हुआ था, यह इससे स्पष्ट होता है। डॉ० राय चौधुरी इस विषय मे पूर्णत एकमत हैं,[2] किन्तु 'तिवस-सत' को यदि १०३ वर्ष स्वीकार किया जाय तो उस स्थिति मे नन्द राजा के ९८ वर्ष वाद खारवेल सिंहासनारूढ हुए थे, ऐसा मानना उचित है (१०३—५= ९८)। इस प्रकार की गणना और भी नाना प्रकार के सन्देहो की सृष्टि करेगी। कारण, नदवश के जिस किसी वर्ष से 'तिवस-सत' को १०३ वप मानकर गणना आरम्भ करने से हम जिस समय पर पहुचते हैं, हमें यह स्वीकार करना होगा कि उस समय कलिंग मगध साम्राज्य के अधीन था। अशोक के शिलालेख मे यह प्रमाणित होता है कि उस समय तोषालि एव सोमपा मे मौर्य कुमार शासन का सचालन करते थे। उस समय किसी कलिंगाधिपति चक्रवर्ती सम्राट का अभ्युदय नही हुआ था।[3] इसलिए, 'तिवस-सत' को ३०० वर्ष के रूप मे स्वीकार करना उचित है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने भी कहा है कि इसमे 'तिवस-सत' को ३०० वर्ष के अर्थ मे प्रकटित किया गया है।[4]

डॉ० जायसवाल ने पहले इसे ३०० वर्ष के रूप मे ग्रहण किया

---

१ Age of Imperial Unity, Chapter on the Satabahanas by Dr D C Sircar

२ P H A I 229 ff

३ O H R J, Vol III, No 2, p 92

४ Age of Imperial Unity, Ch X III, 216 ff

था।[1] किन्तु पुष्पमित्र सुग को खारवेल के समसामयिक सिद्ध करतेहुए उन्होने 'नन्द राजा' को शिशुनाग वश के राजा नन्दीवर्धन के रूप मे प्रमाणित किया था। किन्तु शिशुनाग वश के राजा नन्दिवर्धन कभी भी कलिग से सम्पर्कित रहे हो, ऐसा ज्ञात नही होता है। इसके सिवाय शिलालेख मे भी स्पष्ट रूप मे 'नन्दराज' ऐसा लिखा हुआ देखने मे आता है। इसलिए उग्रसेन महापद्म को नन्दवश के प्रतिष्ठाता के रूप मे 'सर्व क्षत्रान्तक' और 'एकराट्' उपाधि को ग्रहण करने[2] के कारण उन्हे कलिग-विजयी कहना अधिक तर्कसगत लगता है। इन्ही उग्रसेन महापद्म का शासनकाल ई० पू० ३२४ पूर्व से अथवा ३२४ तक निश्चित रूप से सम्पूर्ण हो गया था। कारण, उसी वर्ष चन्द्रगुप्त मौर्य ने अधिकार किया था, ऐसा ज्ञात होता है।[3] इसलिए ई०पू० ३२४ से गणना करने पर ही हम खारवेल को ई० पू० प्रथम शताब्दी के शेषार्ध मे कलिग के एकछत्र शासक के रूप मे कलिग सिहासन पर अधिष्ठित हुए देखते है। काव्य की भाषा मे रस और सौन्दर्य की दृष्टि से नन्दराजा और खारवेल के बीच में होने वाले समय के व्यवधान को 'तिवस-स्त' अर्थात् ३०० वर्ष के रूप मे प्रकट किया है। ऐसा होने पर ही यह असदिग्ध होता है कि खारवेल ई० पू० प्रथम शताब्दी के शेषार्ध मे कलिग के चक्रवर्ती थे।

डॉ० कृष्णचन्द्र पाणिग्राही ने इस मत की उपेक्षा कर 'तिवस-सत' को १०३ वर्ष के रूप मे ग्रहण कर अपना अभिमत प्रकट किया है कि खारवेल के शिलालेख मे 'नन्दराज''अशोक' का लक्ष्य कर लिखा गया है।[4] उनके तर्क के अनुसार—(१)नन्दवश के राजा अत्याचारी और कृपण होते हैं, इसलिए उनके द्वारा कलिग मे नहर की खुदाई के कार्य के लिए धन व्यय करना असम्भव प्रतीत होता है और (२)चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रतिष्ठित राजवश उस समय

---

१ J B O R S XIII 239 ff

२ P H A I 5th Ed ,p 229 ff

३ P H A I, p 233 ff C H India N N Ghosh 114 ff

४ J R A S XIX No I, 25 ff-

मौर्य वंश नाम से प्रख्यात नही हुआ था। इसके अतिरिक्त मौर्यो को पुराणकारो ने 'पूर्वनन्दसुत' ऐसा अभिहित किया है जिससे हाथीगुफा शिलालेख मे 'नन्द राजा' के रूप मे अशोक का उल्लेख किया गया है।

डॉ० पाणिग्राही का तीसरा तर्क है कि अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख (R E XIII) मे कहा है कि उनकी विजय के पूर्व कलिंग राज्य कभी भी दूसरे किसी द्वारा विजित नही हुआ था। अशोक ने कलिंग पर सर्वप्रथम विजय की थी इसलिए अशोक को 'नन्दराज' के रूप मे स्वीकार करना उचित है।

डॉ० पाणिग्राही की प्रथम युक्ति के सम्बन्ध मे हम केवल इतना ही कह सकते है कि ग्रीक लेखको ने नन्दवंश के अन्तिम राजा को ही केवल अत्याचारी और कृपण कहा है। 'सर्व क्षत्रान्तक' और 'एकराट्' महापद्म उग्रसेन की कही पर भी अत्याचारी और कृपण के रूप मे समालोचना नही की गयी है। हमारी पूर्व आलोचना के अनुसार यदि महापद्म नन्द ने वस्तुत कलिंग पर विजय की होती तो कलिंग की श्रीवृद्धि और कृषि की उन्नति के लिए एक नहर के निर्माणार्थ अर्थ व्यय करने मे संकोच किया हो या उन्होने कुण्ठा प्रकट की हो यह सोचना समीचीन नही है। इसके अतिरिक्त विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक से यह प्रमाणित होता है कि नन्दवंश के राजा अपना अधिकाश समय दान-धर्म मे व्यय करते थे। इसलिए वैभवशाली नन्द राजाओ को कृपण कहना अयौक्तिक है, और विशेषकर महापद्म को तो ऐसा नही कहा जा सकता। कारण, इस विषय मे कोई ऐतिहासिक सत्यता नही है।

डॉ० पाणिग्राही का दूसरा तर्क भी उसी प्रकार भ्रमात्मक है। चन्द्रगुप्त मौर्य-साम्राज्य के प्रतिष्ठाता और पिप्पलिवन के मौर्य-वंशधर थे। इसमे संदिग्धता का स्थान नही है। पुराणो मे चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय के रूप मे स्वीकार न कर 'पूर्वनन्दसुत' ऐसा वर्णित करने के पीछे अनेक गूढ रहस्य हैं। ब्राह्मण कौटिल्य के सहयोग से चन्द्रगुप्त ने मगध साम्राज्य पर अधिकार किया था। मगध सम्राट् होने के पश्चात् ब्राह्मण धर्म के प्रति अनुरक्त न

होकर जैन धर्म को स्वीकार करने के कारण ब्राह्मणो का अह खडित हुआ हो यह स्वाभाविक है। मौर्यों को पूर्वनन्दसुत और शूद्र के रूप मे वर्णन करने के कारण श्री हरित्कृष्ण देव ने 'Indian Historical Quarterly' पुस्तक मे वहुत प्राजल रूप से आलोचना की है।[1]

नन्दवश के साथ मौर्यो का कोई सम्पर्क नही था। ई० पू० ६ शताब्दी से मौर्य लोग पिप्पलिवन मे स्वतन्त्र रूप से निवास करते थे। वौद्ध ग्रन्थो मे इसका उल्लेख मिलता है। महा परिनिर्वाण सुत्त[2] से हम जानते हैं कि मौर्य क्षत्रिय वशज थे। दिव्यावदान[3-4] ने भी इसका समर्थन किया है।

ब्राह्मण धर्मग्रन्थो मे चन्द्रगुप्त और अशोक आदि को मौर्य नही कहा गया है। इसका यह अर्थ नही है कि वे नन्दवश के राजा थे। वौद्ध धर्म-ग्रन्थो मे वहुत स्पष्ट रूप से उन्हे मौर्य वर्णित किया गया है जिससे डॉ० पाणिग्राही के मत को हम स्वीकार नही कर सकते। इसी तरह रुद्रदमन के गिरनार शिलालेख मे भी चन्द्रगुप्त और अशोक को मौर्य कहा गया है। अशोक को नन्द राजा के रूप मे स्वीकार करने मे पूर्णतया अयौक्तिकता रही हुई है।

अशोक ने अपने (R. E XIII) शिलालेख मे कहा है कि उन्होने राज्याभिपेक के आठवें वर्ष मे कलिग पर अधिकार कर लिया था एव कलिग उनकी विजय के पूर्व अविजित था (Previously unconquered)।

किन्तु इसमे भी सदेह नही है कि कलिंग पर नन्दराजा ने पहले अधिकार किया था। ऐसा है तो हमारा प्रश्न करना अनुचित नही है कि अशोक ने कलिग को अविजित राज्य कैसे कहा ? इस प्रश्न का उत्तर दो

---

१ I H. O 1932, Vol VIII, No 3, p 466 ff

२ अथमो पिप्पलिवनीया मोरिया कोपि नरकान मल्लान दूत पाहेपु भगवपि खरियो मथ्यपि ग्वरिया।

३ त्व नापिनी अह राजा, क्षत्रेयामूर्धाभिपिक्ता कथ मया सार्धं समागमो भविष्यति

४ देवि ! अह क्षत्रिय कथ पलाण्डु परिभक्षयामि ?

प्रकार से दिया जा सकता है—१ ऐसा कहकर अशोक ने यह प्रकट किया है कि मौर्य वश के किसी भी राजा ने उनसे पूर्व कलिंग पर अधिकार नही किया था। २ नन्दवश शासन के अन्तिम समय मे कलिग ने अपने आप अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। अशोक ने ई० पू० २९१ मे इसी स्वाधीन कलिग पर अधिकार किया था। किन्तु कलिग पर अधिकार करना सहज साध्य कार्य नहीं था। अशोक ने स्वय इस कलिग युद्ध का भयावह और मर्मस्पर्शी वर्णन तेरहवें शिलालेख मे किया है।[1] स्वातत्र्य-प्रिय कलिग-वासियो को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर निश्चित ही अशोक ने शान्ति और तृप्ति का अनुभव किया होगा। अविजित कलिग पर विजय प्राप्त कर उस विजय की शेखी बघारने के पीछे अशोक की साम्राज्यवादी विचारधारा का स्वाभिमान गर्व विद्यमान है। तेरहवें शिलालेख मे इसी स्वाभिमान का विचित्र तरह से प्रकाशन हुआ है। अशोक से सभवत यह छिपा नही था कि कलिग नन्दराजा द्वारा पहले अधिकृत था, यह जानकर भी कलिग को 'अजेय' कहने के पीछे अशोक के केवल अभिमान, पराक्रम एव आत्मगौरव का परिचय दिया गया है।

डॉ० पाणिग्राही की इस बात को इतना अधिक मूल्य देना उचित नही है। 'तिवस-सत' को १०३ वर्ष प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अशोक को 'नन्दराजा' स्वीकार किया है किन्तु यह धारणा गलत है।

डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने कहा है कि हाथीगुफा का शिलालेख प्राचीनता की दृष्टि से लगता है नानाघाट शिलालेख का उत्तरवर्ती एव निश्चित रूप से वेसनगर के शिलालेख का उत्तरवर्ती है, इसमे कोई सन्देह नहीं है।[2] रामप्रसाद चन्द्र ने भी ब्राह्मी लेख की क्रमिक अग्रगति की खोज कर कहा है कि अशोक का शिलालेख यदि ब्राह्मी अक्षर का प्रथम पर्याय (प्रकार) होता है तो वेसनगर का लेख पाचवा पर्याय एव हाथीगुफा का

---

१ Corpus Inscriptionum Indicarum

२ Select Insc I, p 13

लेख छठे पर्याय के रूप मे स्वीकृत होना चाहिए।[1] इसी समय नानाघाट और वरहुत स्तूप के पूर्व-पार्श्वस्थ तोरण मे क्रमश नायनिका और धनभूति का लेख लिखा गया था। इन लेखो मे होने वाले अक्षरो की पर्यालोचना करने से अशोक के शिलालेख के अक्षरो के साथ क्वचित सादृश्य दृष्टि-गोचर होता है। इसलिए हाथीगुफा शिलालेख को हम ई० पू० प्रथम शताब्दी का कह सकते हैं, यह भ्रमात्मक नही है। डॉ० सरकार ने असली नानाघाट शिलालेख को ई०पू० प्रथम शताब्दी के अन्तिमार्ध का कहा है।[2]

फर्गुसन और वर्गीज[3] ने नासिक की गुफाओ को ई०पू० प्रथम शताब्दी के द्वितीयार्ध की कहा है। सार्जन मार्सल ने भी इसे स्वीकार किया है।[4] वे कहते हैं कि इसी समय नासिक का एक छोटा विहार आन्ध्र सातवाहन वश के दूसरे राजा कृष्ण के समय मे मन्दिर के रूप मे पुनर्गठिन हुआ था। यदि वह हुआ है तो कृष्ण ने ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्त मे शासन किया था।

इसलिए उनके उत्तराधिकारी सातकर्णी और सातकर्णी की रानी नायनिका का नानाघाट शिलालेख और भी उत्तरवर्ती काल का है। डॉ० राय चौधुरी के मत के साथ यह पूर्णतया मेल खाता है और डॉ० पाणिग्राही ने सातकर्णी को ई० पू० द्वितीय शतक का प्रमाणित करने का जो प्रयास किया था, वह ठीक नही है। इसलिए खारवेल कभी भी ई० पू० द्वितीय शताब्दी के न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्तिमार्ध के प्रमाणित होते हैं।

'एकराट्' और 'सर्व क्षत्रान्तक' उपाधि-धारक उग्रसेन महापद्म ने नन्दवश के प्रतिष्ठाता के रूप मे असक, वीति क्षेत्र, कुरु, पाञ्चाल आदि राज्यो पर अधिकार करने के समय कलिग पर अधिकार किया था। उनकी

---

१ M A S I, No 1

२ Select Inscriptions

३ Cave Temples of India

४ C H India Vol 636 ff

विराट् सैन्यदल की रण-दुन्दुभि ने समग्र भारतवर्ष मे आतक उत्पन्न कर दिया था। ऐसा नही होता तो पुराणकार उन्हें 'सर्व क्षत्रान्तक' उपाधि से विभूषित नही करते। इसलिए हाथीगुफा के 'नन्दराजा' को हम महापद्म के रूप मे स्वीकार करते हैं।

'तिवस सत' को ३०० वर्ष मानकर महापद्म नन्द से गणना आरम्भ करने पर हम ई० पू० प्रथम शताब्दी मे पहुच जाते हैं। खारवेल का वास्तविक समय यही है।

खारवेल का साम्राज्य

हाथीगुफा शिलालेख मे खारवेल के बाल्यकाल के इतिहास के साथ-साथ साम्राज्य-गठन का वर्णन भी दिया गया है। उसमे खारवेल की दैनिक शक्ति और पराक्रम की बहुत अधिक प्रशसा की गयी है। सर्व शुभ लक्षण युक्त इन्ही कलिंगाधिपति का शासनकालीन वर्णन बहुत सुन्दर ढग से वर्णित किया गया है।

खारवेल का जन्म 'चेदि' राजवश मे हुआ था।[1] वे इस वश के तृतीय राजा थे।[2] प्रोफेसर स्टेनकोनाओ, डॉ० जायसवाल और डॉ० टामस ने उन्हे 'चेति' या 'चेदि' वश का अभिहित किया है।[3]

खारवेल को शैशव मे ही शासन-कार्य की सुपरिचालना के साथ आवश्यकीय शिक्षा भी दी गई थी। सामरिक शिक्षा के साथ-साथ उन्होने लेखन-विधि, कानून, गणित, व्यवहार आदि विद्याए भी प्राप्त की थी।[4]

सोलह वर्ष की अवस्था मे उन्हे 'युवराज' पद पर अभिषिक्त कर दिया गया था। उस समय उनका शैक्षणिक कार्यकाल समाप्त हो गया था।

---

१ चेति राजवश वधन

२ ततीये कलिंग राजवश पुरिप युगे महाराजा भिषेचन पापुनाति

३ Old Brahmi Inscriptions, p 233

४ Hathigumpha Inscriptions line-1

कलामेघवाहन
कलिंगाधिपति
खारवेल का
राज्य
मथुरा
भोजका
विंध्यपर्वत
नर्मदा नदी
गिरि
माध
आशिका
कृष्णा नदी
कावेरी नदी
सिंहल
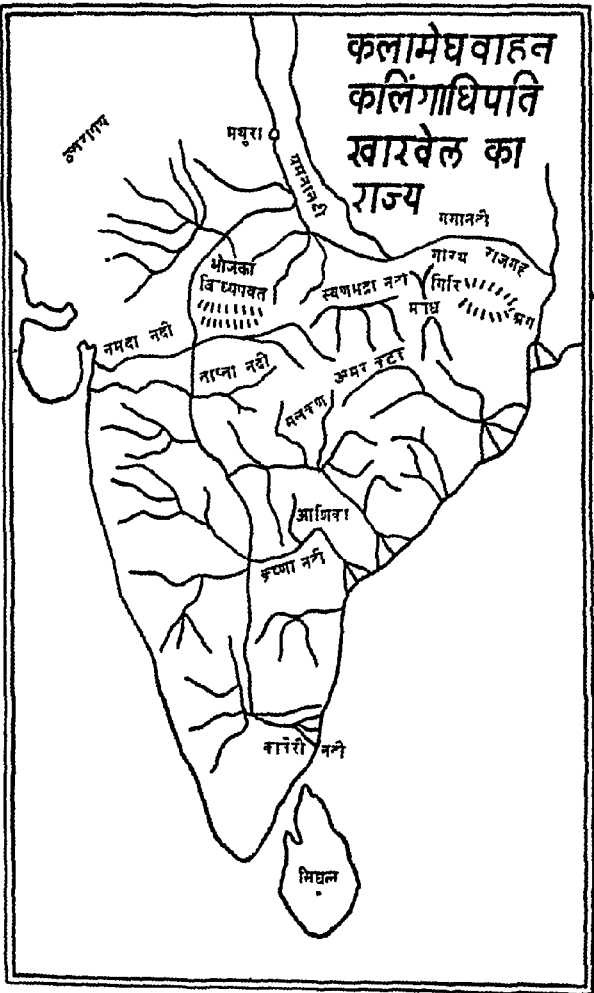
खारवेल के वीरत्व को व्यक्त करने वाले कार्यकलाप का आभास उनके अग-सौष्ठव और शारीरिक शौर्य द्वारा मिलता रहा था। जिस समय उन्हे युवराज पद दिया गया था, नि सदेह उन्होने उस समय अपने को सयम और आत्म-साधना के अध्यवसाय मे नियोजित किया होगा। आत्म-सयम, धैर्य एव विनय—उस समय राजाओ के ये प्रमुख लक्षण के रूप मे स्वीकृत थे। चाणक्य का अर्थशास्त्र इसका प्रमाण है।[1]

चौवीस वष की अवस्था मे खारवेल ने कलिग का शासन-भार वहन किया था, और केवल तेरह वर्ष शासन किया था। इसी स्वल्प समय मे उन्होने कलिग के उत्तर और दक्षिण मे स्थित समस्त राज्यो पर विजय प्राप्त की थी।[2] अशोक के आक्रमण के फलस्वरूप ध्वस्त-विध्वस्त होने पर भी कलिग की स्वाधीन मनोवृत्ति विनष्ट नही हुई थी। अशोक की मृत्यु के कुछ समय वाद निश्चित रूप से अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर ली होगी। स्वाधीनता प्राप्ति के प्राय २०० वर्षो के मध्य अतीत की उथल-पुथल का प्रतिशोध लेने के लिए कलिग पुन एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे उतर आया था। खारवेल के आविर्भाव के समय कलिग मे उनकी दिग्विजय के लिए समस्त प्रकार का वातावरण तैयार हो गया था। इतने थोडे से समय मे उन्होने किस प्रकार समग्र उत्तर भारत और दक्षिण भारत मे अपनी विजय-पताका फहराई थी, यह आश्चर्य की बात है। खारवेल के समय मे कलिग की सैन्य सख्या क्या थी, इसे जानने का वर्तमान कोई साधन नही है। हाथीगुफा शिलालेख भी इस सबध मे पूर्णतया मौन है।

हाथीगुफा शिलालेख की चतुर्थ पक्ति से हम जान पाते हैं कि खारवेल ने अपने शासन के द्वितीय वर्ष मे कलिग की पश्चिम दिशा मे सेना भेजी।

---

१ विद्या विनीतो राजा हि, प्रजाना विनयरत अनन्या पृथिवी भुड्क्ते, सर्वभूतहितेरत

२ History of Orissa, Dr H K Mehatab & Early History of India, N N Ghosh

३ Glimpses of Kalinga History, N D Das

थी। इसी वर्ष से उनके साम्राज्य-स्थापना का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ था। पश्चिम दिशा मे सैन्य को भेजने से पूर्व निश्चित ही चक्रवर्ती खारवेल ने सैन्यवाहिनी को अभूतपूर्व ढग से उन्नत कर उसे अजेय बना लिया था।[१] इसी दुर्जय कलिंग सेना की शक्ति का प्रथम प्रयोग आध्र सातवाहन वश के तीसरे राजा सातकर्णी के विरुद्ध मे हुआ था।[२] सातकर्णी के साथ खारवेल ने क्यो युद्ध किया, इसका कारण इतिहास के विस्तृत गर्भ मे आच्छन्न रहा हुआ है। सभवत कलिगाधिपति की साम्राज्य-प्रतिष्ठा की महत्त्वाकाक्षा मे पडोसी सातकर्णी किसी प्रकार से बाधक बने होगे। इस आकस्मिक आक्रमण का प्रतिरोध करना सातकर्णी के लिए सभव जैसा नही था, इसलिए बाध्य होकर उन्होने पराजय स्वीकार कर ली थी।

कलिंग सेना उसके बाद स्वदेश को न लौटकर कृष्णा नदी के तट पर स्थित असिक नगर[३] तक आगे बढी थी। पुराणो के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि कृष्णा नदी के तटीय राज्य बहुत पराक्रमशाली थे। किन्तु खारवेल के वेग को रोकने का दुस्साहस उनमे नही था। असिक नगरवासियो को आतकित कर एक वर्ष की लम्बी विजय-यात्रा के बाद खारवेल पुन कलिग मे लौट आये थे।

शासन के तीसरे वर्ष मे खारवेल ने कही पर भी विजय-यात्रा की, इसका प्रमाण हमे नही मिलता है। इसलिए वह वर्ष उन्होने हर्षोत्फुल्ल होकर आमोद-प्रमोद मे विताया था, ऐसा हाथीगुफा शिलालेख मे वर्णित है।

लेकिन चौथे वर्ष मे फिर कलिग सैन्यवाहिनी की रण-दुन्दुभि से विन्ध्याचल निनादित हो उठा था। अरकडपुर के विद्याधरो पर अधिकार

---

१ अपतिहत चक वाहन दलो।

२ History of Orissa, Vol II, Dr N K Sahu, P 327

३ डॉ० जायसवाल और प्रोफेसर राखालदास बनर्जी ने असिक नगर को 'मूषिक-नगर' पढ़ा है।

कर खारवेल ने रथिक और भोजको पर आक्रमण किया था। युद्ध मे पराम्त होकर उन्होने कलिंग सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी।[1]

खारवेल के शासन का आठवा वर्ष केवल कलिंग के इतिहास मे ही नही, भारतीय इतिहास मे भी एक नये युग के सूत्रपात का समय था। उस वर्ष दक्षिण भारत के प्रति दृष्टिपात न कर महामेघवाहन कलिंग सम्राट् ने उत्तर भारत पर अधिकार करने का विचार किया था। कलिंगवासी महा पद्मनन्द और अशोक द्वारा दो बार पराजित हो गये थे। इसलिए उनका मन प्रतिशोध के लिए ललचा रहा था। उनकी एकमात्र प्रमुख अभिलाषा यही थी कि मगध साम्राज्य के उन्नत और विशाल वक्षस्थल पर पदाघात किया जाये। ई० पू० २९१ मे घटित होने वाले रण-ताण्डव के मार्मिक घाव अभी भरे नही थे। वे केवल समय और सुयोग की प्रतीक्षा मे थे। चेति राजवश के अभ्युदय के फलस्वरूप इस अभिलाषा की पूर्ति का मार्ग खुल गया था।

कलिंग मे चेति राजवश के आविर्भाव के समय मगध की राजनैतिक परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। ग्रीक लोगो द्वारा बार-बार आक्रमण करने के कारण मगध साम्राज्य का अस्तित्व नाममात्र शेष रह गया था। इसी समय मगध पर आक्रमण कर आन्ध्र सातवाहन वश के प्रतिष्ठाता सिमुक ने कण्ववश के अतिम राजा सुशर्मण को बाहर खदेड दिया था। सिमुक के अल्प समय बाद कलिंग सैन्यवाहिनी पाटलिपुत्र की ओर अग्रसर हो गयी थी, जिसका नेतृत्व खारवेल ने किया था। दक्षिण भारत के अप्रतिद्वन्द्वी शासक की दृष्टि से उनकी शक्ति और सैन्य सख्या निश्चित रूप से अनेक गुणी बढी हुई होगी। इसी अपरिमेय शक्ति के समक्ष उत्तर भारत का राजनैतिक विपर्यय कोई विघ्न उपस्थित करने मे सक्षम नही था। इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही दृष्टियो से दिग्विजय का मार्ग सुगम हो गया था। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के पूर्व ही गोरथ

---

१ रथिक (राष्ट्रिक) और भोजको का अशोक के शिलालेख मे उल्लेख किया गया है।

गिरि के ध्वस्त होने से पाटलिपुत्र का प्रवेश-मार्ग खुल गया था। गोरध गिरि का अभेद्य दुर्ग जिसमे बाधक था, जिसके ध्वस होने से पाटलिपुत्र का ध्वस भी अवश्यभावी हो गया था। गोरध गिरि पर अधिकार करने के बाद खारवेल ने राजगृह पर अधिकार किया था।[१]

ऐसा लगता है कि पाटलिपुत्र मे खारवेल का प्रतिकार करने का साहस किसी ने नही किया था। यदि उनका प्रतिरोध किया भी गया होगा तो वह बहुत नगण्य जैसा था, खारवेल ने जिसका अनायास ही अतिक्रमण कर दिया हो।

पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के ठीक अनन्तर ही खारवेल एक ओर शत्रु के सम्मुखीन हो गये थे। हाथीगुफा शिलालेख की आठवी पक्ति मे जिसे 'यवनराज' कहा गया है, डॉ० जायसवाल कहते हैं कि उक्त पक्ति मे 'यवनराज दीमित' ऐसा उल्लेख है।[२] किन्तु डॉ० वेणीमाधव वरुआ[३] और डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार[४] ने उसे स्वीकार नही किया है। ज्ञात होता है कि यह 'यवनराज' कोई ग्रीक था या उनके आक्रमणकारी को उद्दिष्ट कर लिखा गया है। उक्त 'यवनराज' के मगध पर आक्रमण करने के समय खारवेल ने भी आक्रमण किया था। इसलिए दोनो मे युद्ध होना अवश्यभावी हो गया था। खारवेल के वीरत्व से प्रकम्पित होकर यवनराज युद्ध के मैदान मे खडा नही रह सका। उसने मथुरा की ओर पलायन कर दिया। दूरदर्शी और कुशल राजनीतिज्ञ कलिंग सम्राट् ने यह निश्चय कर लिया था कि इसको बाहर निकाल दिया जाय। ऐसा करने से वे विमुख नही हुए थे।[५] फलस्वरूप कलिंग सेना ने मथुरा की ओर कूच कर दिया था। बेचारे यवनराज ने

---

१ अठे च दसे महति सेन मधुर अनुपतो गोरध गिरि घातापयिता राजगहान पपिदापयति।

२ J B R S XIII 1921, pp 221, 228

३ O B Inscription, p 18

४ Selected Inscriptions, Dr D C Sircar, p 208

५ History of Orissa, Vol II, Dr N K Sahu p 328

सदा-सदा के लिए भारत से पलायन कर अपनी आत्मरक्षा की थी।

उत्तर भारत की विजय के बाद खारवेल का जाज्वल्यमान स्वर्ण-मुकुट और अधिक दीप्तिमान हो उठा, किन्तु विजय का सुयोग पाकर कलिंग सम्राट् ने लूटमार की सृष्टि नही की थी। मथुरावासियो को आमोद-प्रमोद के द्वारा पूर्ण आप्यायित कर उन्होंने पुन कलिंग की ओर प्रस्थान किया था।[1]

उसके पश्चात खारवेल ने तीन वर्ष तक फिर कभी उत्तर भारत पर आक्रमण नही किया था। इस अवधि मे दक्षिण भारत फिर उनकी क्रूर-दृष्टि का शिकार हो गया था। शासनकाल के नवें वर्ष मे विजय के प्रतीक-स्वरूप विशाल धनराशि खर्च कर उन्होने एक विशाल प्रासाद का निर्माण कराया था।[2] शासन के ग्यारहवें वर्ष मे दक्षिण देशो के मुसलमानो के विरुद्ध उन्होने अपना युद्ध-अभियान चलाया था। यह जाना जाता है कि खारवेल की अनुपस्थिति का अवसर पाकर दक्षिण देशो के अधिकृत राज्यो ने स्वाधीनता के लिए विद्रोह का आयोजन किया था। कारण, तमिल राष्ट्र के एकबद्ध होकर खारवेल के विरुद्ध सग्राम करने का वर्णन हम हाथीगुफा शिलालेख मे पढते हैं। क्रोधान्वित सम्राट् ने मुसलमानो का ध्वस्त कर तमिल राष्ट्रो को भी बहुत कुशलतापूर्वक पराजित कर दिया था। तमिल राष्ट्रो का सघ ११३ वर्ष पहले परिगठित हुआ था, शिलालेख मे इसका उल्लेख किया गया है।[3] सातकर्णी की पराजय के पश्चात् सभवत इसी तमिल सघ ने खारवेल के साथ शत्रुता का आचरण किया था। जिस समय वे उत्तर भारत मे थे, उस समय निश्चित रूप से खारवेल ने तमिल राष्ट्रो के शक्ति-विकास को एक अनागत भविष्य की विपत्ति की सूचना समझकर

---

१. Hathigumpha Inscriptions, line 9

२ दशम वर्ष का इतिहास शिलालेख से अस्पष्ट हो गया है। उसका पढ़ना सभव नहीं है।

३ 'तेरस-दस सत-वट चिददि तिमिर-दह-सघात'

उसका उच्छेद करने के लिए वे बाध्य हो गये थे। शासन के ग्यारहवें वर्ष मे दक्षिण राष्ट्रो की विजय ने उन्हे बहुत अधिक महान् और अप्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित कर दिया। शासनकाल के अतिम समय मे दक्षिण भारत से किसी प्रकार की विपत्ति की उन्हें आशका नही रही थी।

खारवेल का सग्राम इतने मे हो समाप्त नही हुआ था। बुझते हुए दीपक की अतिम लौ की तरह खारवेल ने पुन उत्तर भारत की ओर सेना को सचारित किया था। मालूम होता है पहली बार के उत्तर भारत के आक्रमण से साम्राज्यवादी खारवेल की भावना पूर्ण नही हुई थी। मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के लिए उन्हे समय नही मिला था। यवनराज इसमे बाधक बने थे। ऐसा प्रतीत होता है कि, कलिगवासियो के विक्षत हृदय से प्रतिरोध की हुताग्नि पूर्णतया शात नही हुई थी। कलिग के इष्ट देवता अब तक पाटलिपुत्र के पूर्व शत्रुओ के हाथ मे रहे हुए थे। उत्तर भारत पर पुन आक्रमण का मूल कारण यही लगता है कि शत्रुओ के हाथ से कलिग जिन का पुनरुद्धार करना था।

मगध पर दूसरी बार आक्रमण कर खारवेल ने समस्त राजाओ को सत्रस्त कर दिया था।[1] अग और मगध के निवासियो के मन मे आतक की सृष्टि कर खारवेल ने अपने घोडो और हाथियो को भागीरथी मे जलपान कराया था। उत्तर भारत के राजाओ ने खारवेल की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसके पश्चात् मगध के राजा बृहस्पति मित्र[2] को झुकने के लिए बाध्य किया था।

उसके बाद खारवेन ने पाटलिपुत्र के राजप्रासाद से कलिग जिन का उद्धार किया था। इसी कलिग जिन को प्राय ३०० वर्ष पूर्व कलिग-विजेता नन्दराज यहा से अपनी विजय के प्रतीकस्वरूप ले गये थे। कलिग उस समय जैन धर्म का केन्द्र-स्थल था। इसलिए 'कलिग जिन' वहा के इष्टदेव

---

१ उतरापथ राजानो मगधान च विपुल भय जनेतो।

२ वहसपति मित्त पदे वन्दापयति।

थे। खारवेल भी जैन थे। कलिंग जिन की अवहेलना वे कैसे देख सकते थे ? ३०० वर्ष के लम्बे कारावास के बाद 'कलिंग जिन' स्वतन्त्र बने और पुन: अपने पूर्व स्थान पर लाये गए। इस उपलक्ष मे एक विराट् महोत्सव का आयोजन किया गया था। 'कलिंग जिन' महोत्सव के शुभ उल्लास के बीच अपने पूर्व स्थान मे लौट आए थे।

खारवेल मगध से केवल कलिंग जिन को ही लेकर नही आए थे, इसके साथ-साथ बहुत मात्रा मे धन-रत्न भी मगध और अग के अधिवासियो से लाये थे।[1] यह धनराशि कलिंग की श्रीवृद्धि को बढाने मे व्यय हुई थी। इस प्रकार कलिंग और मगध के भीतर चलने वाली चिरतन शत्रुता की अन्त्येष्टि हुई।

विजयी खारवेल अपने देश मे आ गए थे, किन्तु फिर भी वे स्थिर होकर नही बैठ सके। उसी वर्ष दक्षिण सीमा का अतिक्रमण कर पाण्ड्य राजा पर उन्होंने आक्रमण किया, हाथीगुफा शिलालेख मे पाण्ड्य राजा का नामोल्लेख नही हुआ है। पाण्ड्य राजा खारवेल की वश्यता स्वीकार करने के लिए बाध्य हो गये थे। फलस्वरूप उसे बहुत परिमाण मे मोती, हीरे आदि मूल्यवान वस्तुओ की भेंट देनी पडी थी।[2]

पाण्ड्य राजा को जीत लेने के बाद कलिंग साम्राज्य उत्तर मे पाटलिपुत्र से दक्षिण मे पाण्ड्य तक एव पूर्व मे बगोपसागर से पश्चिम मे विन्ध्याचल के राष्ट्रिक एव भोजक तक परिव्याप्त हो गया था। डॉ० वेणीमाधव बरुआ ने गोदावरी नदी को खारवेल साम्राज्य की दक्षिण सीमा स्वीकार किया है। वस्तुत विन्ध्यपर्वत से निकलकर गोदावरी शायद कलिंग साम्राज्य की दक्षिण सीमा मे प्रवाहित हुई हो। किन्तु खारवेल के शासन के बारहवें वर्ष मे पाण्ड्य राजा ने कलिंग सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसलिए गोदावरी नदी को दक्षिण सीमा के रूप मे हम स्वीकार नही कर

---

१ History of Orissa Dr H K Mehatab p 29

२ Hathigumpha Insetription, Li c 13 O'd Brahmi Inscription, p 23

सकते। हाथीगुफा शिलालेख से हम जान पाते है कि पश्चिम दिशा मे खारवेल ने मातकर्णी को जीतकर असिकनगर तक अधिकार किया था, अत कोशल अथवा दक्षिण कोशल[1] निश्चित रूप से साम्राज्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिए था। डॉ० स्टेनकोनाओ और डॉ० जायसवाल का कहना है कि कलिग-विजय के वाद अशोक इस कोशल प्रदेश पर विजय नही कर मके थे, इमलिए 'अन्ता अवजिता' नाम से अविहित किया था।[2] उस समय कोशल के अभेद्य अरण्य मे आदिवासी लोगो का निवास था। पश्चिम दिशा मे खारवेल के सैन्य सचालन के फलस्वरूप वह प्रदेश कलिग के अन्तर्भुक्त हो गया था।

इतने विशाल साम्राज्य के सम्राट् होकर खारवेल ने फिर कभी भी युद्ध करने की इच्छा प्रकट नही की थी। शासन का तेरहवा वर्ष उन्होंने धार्मिक कार्यों मे विताया था। महामेघवाहन के इतिहास के सम्वन्ध मे उसके आगे हाथीगुफा शिलालेख पूर्णत मौन है। ऐसा लगता है कि अपनी इच्छा से राज्य त्यागकर मौर्य माम्राज्य के प्रतिष्ठाता चन्द्रगुप्त की तरह खारवेल जैन श्रमण वन गये थे।

---

१ दक्षिण कोशल से विलासपुर, रायपुर और सवलपुर के प्रदेश समझे जाते हैं।

२ Separate Kalınga Edıcts of Asoka at Jaugarh and Dhaulı C I I, Vol 1

खारवेल और जैन धर्म

खारवेल के शासन के सैकडो वर्ष पूर्व दक्षिण भारत मे कलिंग जैन धर्म का प्रधान केन्द्र-स्थल था। कलिंग मे विद्यमान ब्राह्मण धर्म के साथ वह समान रूप से गति कर रहा था या उसने अपनी श्रेष्ठता स्थापित की थी, इस विषय मे हमारा इतिहास मौन है। किन्तु उस समय जैन धर्मावलम्वी लोगों के इष्टदेव को 'कलिंग जिन' कहा जा रहा था। इस विषय मे इतिहास मौन नहीं है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी मे महापद्मनन्द (नन्दराज) ने कलिंग पर आक्रमण किया था, हाथीगुफा शिलालेख मे इसका उल्लेख हुआ है। कलिंग पर अधिकार करने के पश्चात् महापद्मनन्द विजय के प्रतीक-स्वरूप 'कलिंग जिन' को पाटलिपुत्र ले गए थे। शिलालेख में इसकी सूचना है। कलिंग-विजय के वाद धन-रत्न आदि मूल्यवान् पदार्थों को साथ न ले जाकर 'जिन मूर्ति' को ले जाने की क्या आवश्यकता थी, यह प्रश्न सबके मन मे उठ सकता है। विजयी महापद्मनन्द का विजय के गर्व मे उत्फुल्ल होकर कलिंग जिन के प्रति आकृष्ट होना बहुत स्वाभाविक हो गया था। कारण, कलिंग-निवासियो की यह मूर्ति ही आराध्य देवता थी। कलिंग मे जैन धर्म का प्राधान्य विस्तृत होने के कारण जिन मूर्ति का प्रभाव निश्चित रूप से प्रत्येक घर पर कम-वेशी मात्रा मे पडा होगा। इसके सिवाय महापद्म स्वय भी जैन धर्म के उपासक थे, अन्यथा कलिंग पर अधिकार करने के

बाद वे अपने इष्ट देव को बहुत दूर पाटलिपुत्र मे ले जाने का प्रयास नही करते और इच्छा भी नही रखते। सभवत 'जिन मूर्ति' को वही नष्ट कर देते। किन्तु हाथीगुफा शिलालेख से स्पष्ट पता चलता है कि खारवेल ने जब तक मगध पर अधिकार नही किया था तब तक, ३०० वर्ष की लम्बी अवधि तक, उक्त जिन मूर्ति पाटलिपुत्र मे सुरक्षित थी।

नन्दराजा द्वारा कलिंग पर अधिकार करने के बाद भी जैन धर्म कलिंग से तिरोहित नही हुआ था, अथवा उत्कलीय जनता द्वारा अवहेलित नही हुआ था। लेकिन विभिन्न राजवशो की समर्थकता के कारण महावीर का शाति और मैत्रीपूर्ण उपदेश कलिंग के घर-घर मे प्रचारित हुआ था। अशोक के समय मे और उनके पश्चात् भी कलिंग जैन धर्म का केन्द्र-स्थल रहा है, ऐसा अनुमान होता है। 'चेति' राजवश के साहचर्य और सहानुभूति ने इस धर्म के सप्रसारण मे विशेष योग दिया था। जिस समय उत्कल इतिहास मे महामेघवाहन कलिंगाधिपति खारवेल का अभ्युदय हुआ था, उस समय जैन धर्म की प्रगति मे गतिरोध पैदा करना सभव नही था।

खारवेल स्वय जैन धर्म के उपासक और मुख्य समर्थक थे। हाथीगुफा शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि नन्दराजा कलिंग पर अधिकार कर जिस 'कलिंग जिन' को यहा से ले गए थे, अपने शासन के बारहवें वर्ष मे उसी 'जिन प्रतिमा' को अग और मगध पर अधिकार कर खारवेल पुन अपने देश मे लेकर आए थे। इसलिए एक विराट् जुलूस और महोत्सव का आयोजन हुआ था। खारवेल की विशाल सैन्यवाहिनी ने और असख्य नागरिको ने उस महोत्सव मे भाग लिया था। सम्राट् के उस काय का समग्र कलिंग साम्राज्य ने समर्थन किया था। सगीत और वाद्यो की प्रिय ध्वनि के बीच 'कलिंग जिन 'अपने पूर्वाधिष्ठित स्थान मे पुन स्थापित हुए थे। खारवेल और उनका समग्र परिवार जैन था, हाथीगुफा शिलालेख से यह स्पष्ट अनुमानित होता है। यह भी कहे तो कोई अत्युक्ति नही होगी कि कलिंग जिन के साथ उनकी भक्ति और धार्मिक स्नेह एकीभूत बना हुआ था।

जैन धर्म कलिंग का ही एकमात्र धर्म नही था। ई० पू० छठी शताब्दी से भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त मे हिन्दू, जैन एव बौद्ध कम या अधिक सख्या मे थे। हाथीगुफा शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि अन्यान्य भारतीय धर्म और विभिन्न धर्म के देव-देवियो ने कलिंगवासियो के मन पर बहुत अधिक प्रभाव विस्तृत किया था। प्रकृति-उपासना आदि हिन्दू धर्म की विविध पूजा-पद्धतिया जैन धर्म के साथ जैनो द्वारा अनुसृत हो रही थी। जैन धर्म की विधि, रीति, कठोर नियम-पालन और चौबीस तीर्थंकरो के महानतम आदर्श, उच्च-चरित्रशीलता, आत्मसयम, आध्यात्मिक चिन्तन आदि विविध श्रेष्ठताओ ने उत्कलीय जनता को विशेष रूप से अनुप्राणित किया था, इसमे आश्चर्य करने का कोई कारण नही है। ये हमारी वैयक्तिक विशेषताए और राष्ट्रीय आचार हैं। इसलिए तीर्थंकरो के विशाल व्यक्तित्व और त्याग के सामने कलिंगवासियो का प्रणत होना बहुत स्वाभाविक था।

खारवेल के समय जैन धर्म-साधको के लिए खडगिरि और उदयगिरि पर सौ से अधिक गुफाओ का निर्माण हुआ था। खारवेल स्वय जैन उपासक थे। जैन साधुओ के प्रति व्यक्तिगत रूप से भी वे अनुरक्त थे। हाथीगुफा शिलालेख के प्रारम्भ मे चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल ने जैन धर्म के आराध्यो को लक्ष्य कर अपना भक्ति-नैवेद्य अर्पित किया है।

शिलालेख की प्रथम पक्ति मे 'नमो अरहतान नमो सिद्धान' लिखा गया है[1]।

जैन शास्त्रो के अनुसार पच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता है, पडित भगवानलालजी इन्द्र और राजेन्द्रलाल मित्र का अभिमत है। जैन शास्त्रानुमोदित इस मार्ग का अनुकरण कर सम्राट् खारवेल ने अपनी

---

१ "Let the head bend low in obeisance to arhats the exalted ones Let the head bend low (also) in obeisance to all siddhas the perfect saints

प्रशस्ति के प्रारम्भ मे अर्हत् और सिद्धो को लक्ष्य कर प्रणाम किया है।[1]

शिलालेख मे अनेक चिह्न हैं[2]। शिलालेख के दोनो तरफ ये चार चिह्न हैं, दो बायी तरफ और दो दायी तरफ। प्रथम चिह्न शिलालेख की दूसरी पक्ति के बायी तरफ है।

चौथा चिह्न सातवी पक्ति के दायी तरफ है। शिलालेख का प्रारम्भ और समाप्ति का निर्देश करने के लिए ये दो चिह्न दिए गए है। दूसरा चिह्न प्रथम चिह्न के नीचे की जगह मे एव तीसरा चिह्न प्रथम और दूसरी पक्ति के दक्षिण भाग मे है। डॉ० जायसवाल ने कहा है कि तीसरा चिह्न ठीक खारवेल के नाम के बाद है, किन्तु वह ठीक नही है। ये चिह्न क्या है ?

जैन लोग प्रथम चिह्न को 'वद्धमगल' कहते हैं।[3] द्वितीय चिह्न को 'स्वस्तिक' कहा जाता है। तृतीय चिह्न का नाम 'नन्दिपद' है। कान्हेरि पर्वत के निकटस्थ पदण पर्वत पर विद्यमान एक शिलालेख मे ऐसे ही चिह्न को 'नन्दिपद' कहा गया है।[4] हाथीगुफा के चतुर्थ चिह्न को रुखचेतिय, या 'वृक्ष चैत्य' नाम से अभिहित किया गया है।

---

१ नमो अरहताण नमो सिद्धाण नमो आयरियाण नमो उवज्झायाण नमो लोए सव्व साहूण।

२

प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ
वद्धमगल	स्वस्तिक	नन्दिपद	वृक्षचैत्य
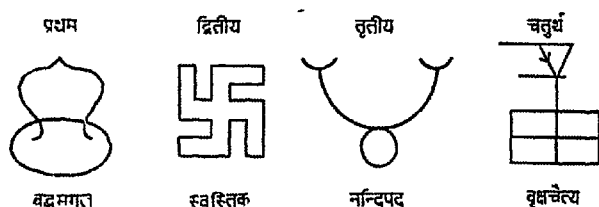
३ Dr A K Coomarswamy ने इसको Powder Box कहा है।

४ J B B R A S XV p 320

वद्धमगल एक मागलिक चिह्न के रूप मे जूनागढ की जैन गुफा के द्वार-देश पर खोदा हुआ है। साची स्तूप के तोरण मे भी यही चिह्न है। पश्चिम भारत मे स्थित बौद्ध गुफाओ मे विद्यमान किसी-किसी शिलालेख मे भी 'वद्धमगल' चिह्न देखा जाता है।[1] जैनो के आठ मगलो मे से 'वद्ध-मगल' सर्वश्रेष्ठ है। जूनागढ मे सभी आठो मगल खुदे हुए हैं। इन्द्रजी का कहना है कि स्वस्तिक, दर्पण, कलश, भद्रासन, मत्स्य, पुष्प-माल्य, अकुश और वद्धमगल आदि जैनो के आठ मगल चिह्न हैं। जैन भिक्षुओ के भिक्षा पात्र भी आजकल ठीक 'वद्धमगल' चिह्न के आकार-सदृश हैं। हाथीगुफा मे वद्धमगल की क्या आवश्यकता थी, इसका उत्तर देना सभव नही है। इतिहासविदो ने शायद त्रिशूल, त्रिरत्न या वत्स के रूप मे इसकी आलोचना की हो। प्राचीन भारतीय मुद्राओ मे जो चिह्न देखे जाते है, वद्ध-मगल उनमे से एक है। हाथीगुफा शिलालेख मे विद्यमान अन्य तीन चिह्न भी प्राचीन मुद्राओ मे देखे जाते हैं। इसलिए हाथीगुफा शिलालेख के आदि-अन्त का निर्णय करना ही प्रथम और चतुर्थ का उद्देश्य है, यह कहा जाय तो असगत नही है।

दूसरा एव तीसरा स्वस्तिक चिह्न और नन्दिपद का इतिहास चाहे जो कुछ भी हो, किन्तु हाथीगुफा शिलालेख मे उनका क्रमिक व्यवहार स्वस्ति और मगल के प्रतीक रूप मे हुआ है। बौद्ध भी स्वस्तिक और नन्दिपद को स्वस्ति और मगलसूचक के रूप मे व्यवहार करते हैं। 'मगल सूत्र' नामक पालि ग्रन्थ मे इसका प्रमाण मिलता है। श्री हरिकृष्ण देव ने कहा है कि वैदिक शास्त्रो मे 'ओ' शब्द को रूपक के रूप मे स्वस्तिक और नन्दिपद को आर्यो ने व्यवहार किया है। सभवत बौद्ध एव जैनो ने भी उसी नियम को स्वीकार किया हो। वेदो मे 'ओं' मगल-सूचक है। उसी मगल की सूचना के लिए जैन और बौद्धो ने 'ओ' ग्रहण न कर 'स्वस्तिक' एव नन्दिपद को ग्रहण किया है।

---

१ Acts du sixieme congris III, 137

हाथीगुफा का शिलालेख जैन धर्मावलम्बी चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल के आदेश से लिखा गया था। इसलिए शिलालेख मे जैन शास्त्र के मागलिक चिह्नो का होना मूलत अस्वाभाविक नही है, किन्तु आवश्यकीय है। खारवेल जैन थे, इसे प्रमाणित करने के लिए भी दृष्टान्त के रूप मे इन चिह्नो को स्वीकार किया जा सकता है।

शिलालेख की चतुर्दश पक्ति मे लिखा है—तेरसमे चवसे सुपवत्त-विजय चको कुमारी पवते अराहृतोपरिनिवासे ताहिकाय निसीदीयाय राजभतकेहि राजभातिहि, राजनीतिहि राजपुतेहि। राजमहिपि खारवेल-सिरिना सत दश लेण सत कारापित।[1]

जैनो की सुविधा के लिए खारवेल और उनके परिवार वर्ग आदि की चेष्टा के फलस्वरूप ११७ गुफाओं का निर्माण हुआ था।

सम्राट् खारवेल जैन थे किन्तु उनकी सहानुभूति केवल जैनो के लिए ही परिलक्षित नही हुई थी। उन्होने हिन्दू देव-देवियो के लिए भी कई मन्दिरो का निर्माण कराया हो, यह असदिग्ध रूप मे कहा जा सकता है। 'सुकता-समण सुविहितान, च सतदिसानु यतिव, तापस इसिन लेण कारयति, अर त निसीदीय समीपे पभारे दरकार समुथापिणहि अवेक जोजना हताह पनति-साहि-सतसरमाचि सिलाहि थम्बानित् चेचियानि च कारापयति। पटलि करतिरे च वेडरीय गभे थम्भे पडिथापयति।'

"पनतरीय सतस हरेहि देतुरीय नीलमोक्ष—चे चयति-अध सतिङ्क गेग्यि उपदयति।" (हाथीगुफा शिलालेख पचदश पक्ति)

इसे पढने से पता चलता है कि शासन के तेरहवें वर्ष मे खारवेल ने जैन

---

१ AND in the 13th year on the Kumari hill, in the well-known realm of victory, 117 Caves were caused to be made by his Graceful Majesty Kharavela, by his relatives, by his brothers, by royal servant's for the residing Arhats desiring to rest their bodies

श्रमणो के लिए कुमारी पर्वत पर ११७ गुफाओ के निर्माण कराने के साथ-साथ दूसरे-दूसरे प्रख्यात धर्म के साधुओ और यतियो के निवास के लिए (सकत सगम-सुविहिता) अलग कोई गुफा बनाई थी। इसके सिवाय दूसरे-दूसरे ऋषि-मुनियो, श्रमणो को आश्रय प्रदान करने के उद्देश्य से भी सब प्रकार का वन्दोबस्त किया था। शिलालेख मे इसका वर्णन हुआ है। (शत विसाकम् यदिकम् तापस इसिकम् लेणेर-कारयति) इसमे यति, ऋषि और साधुओ का उल्लेख करने से यह बोध होता है कि हिन्दुओ के वर्णाश्रम धर्म की वानप्रस्थ अवस्था को सूचित किया गया है। अशोक के शिलालेख आदि मे जैन, आजीवक और बौद्धो को ब्राह्मण धर्म के योगी ऋषियो से पृथक् करने के लिए श्रमण कहा गया है। लेकिन खारवेल ने ब्राह्मण सन्यासियो को यति, ऋषि, तापस नामो से उल्लिखित किया है। हाथीगुफा शिलालेख के वर्णन मे बौद्धो और आजीवको को स्थान नही मिल सका। इसके कारण का निर्णय करना सभव जैसा नही है।

शिलालेख की सोलहवी पक्ति मे खारवेल की धर्म-नीति का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। इस धर्मनीति की विस्तारपूर्वक आलोचना करने के लिए उक्त अश को विशेष ध्यानपूर्वक पढना चाहिए—'खेमरादास वधराजदास इदरादास धमरादास पसते सुनतो अनुभवतो कलालाणा गुण-विसेस कुशलो सव्व पाषाण्ड पूजको सव-देवायतन-सकार कारको अपतिहृत चकवाहन वलो चकधरो गुतचको पवतिचको राजिसि वसुकुल विनिसितो महाविजयो राजा खारवेल सिरि' (हाथीगुफा शिलालेख, षोडश पक्ति)।

समालोचना के लिए इसका सस्कृत अनुवाद नीचे दिया जाता है

"क्षेमराज स वर्धराज स इन्द्रराज स धर्मराज पश्यन् शृण्वन् अनुभवन् कल्याणालि गुणविशेष-कुशल सर्वपाषण्ड-पूजक सर्वदेवायतन-सस्कारकारक अप्रतिहतचक्रवाहनवल चक्रधर चक्रगुप्त प्रवर्तचक्र राजर्षि वसुकुलविनिर्गतो महाविजयो राजा खारवेल श्री"

इसमे खारवेल की चारित्रिक श्लाघनीयता का भी परिचय दिया गया

है। वे क्षमाशील परिवृद्धि के आधार, इन्द्र सदृश शक्तिशाली और धर्मराज सदृश न्याय-विशारद थे। खारवेल आध्यात्मिक उन्नति के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहते थे, हितकार्य और कल्याण-साधना मे व्यापृत रहते थे। उन्हे सर्व पाषण्ड-पूजक कहा गया है। यह सब देखकर ऐसा लगता है, अशोक के धर्माचरण की छाया पडी हो। जिस तरह अशोक ने अपने साम्राज्य के समस्त धर्मों के मध्य मे एकता का परिचय दिया था, उसी प्रकार खारवेल भी समस्त धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे। केवल इतना ही नही; जैन होकर भी उन्होने दूसरे धर्मों के प्रति विरक्ति प्रकट न कर सम्मान प्रकट किया था। शिलालेख के उसी स्थान मे 'सव देवायतन सस्कार कारक' लिखा गया है जो हमारी धारणा को प्रत्यक्षतया प्रमाणित करता है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि हिन्दू धर्म के विभिन्न देव-देवियो के लिए देवालयो का निर्माण कराया था एव सम्राट् खारवेल की धर्म-सभा बिना किसी भेदभाव के पुरातन मन्दिरो के जीर्णोद्धार के लिए तथा नये मन्दिरो की सम्यक् व्यवस्था के लिए दो प्रकार का विचार न रखकर अर्थ व्यय करती थी। अल्पकाल के शासनकाल मे खारवेल बार-बार कलिंग नगर की अभिवृद्धि के लिए मुक्त-हस्त अर्थ व्यय करते थे—हाथीगुफा शिलालेख मे इसका वर्णन किया गया है। उन्होने कभी भी केवल जैनो की सुख-सुविधा और स्वातत्र्य के लिए आत्म-नियोग नही किया था। उनका मुख्य ध्येय था कि साम्राज्य के सभी लोगो को सासारिक सुखो के साथ-साथ आध्यात्मिक और मानसिक शान्ति भी प्राप्त हो। इसलिए सभी ने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की थी। सामाजिक आचार-पद्धति मे किसी प्रकार का कठोर कानून प्रसारित नही किया था।

दुर्भाग्यवश हिन्दू देवालय और अन्यान्य कीर्तिमान समय की दूरी और वर्षा-तूफानो की प्रतिकूलता मे खडे नही रह सके, अन्यथा खारवेल के उदार हृदय का परिचय हमे सहज रूप से प्राप्त हो जाता।

सम्राट् खारवेल वास्तव मे जैन धर्म के एक उज्ज्वल आलोक-स्तम्भ थे। उनकी समर्थकता ने जैन धर्म को कक्षच्युत न कर और अधिक आदरणीय

बनाया था। इस दृष्टि से शिलालेख मे उन्हें 'चकधरो' (चक्रधर) कहा गया है। जैन शास्त्र और बौद्ध ग्रन्थ आदि मे 'चक्र' का 'धर्म' के अर्थ मे व्यवहार किया जाता है। इसलिए यहा पर भी 'चक्र का अर्थ 'धर्म' एव खारवेल को चक्रधर कहकर जैन धर्म मे उनकी उच्चासनता का वर्णन किया गया है। केवल इतना ही नही, उन्हे 'गुप्तचक्र' की उपाधि भी दी गयी है।

खारवेल को जैन प्रमाणित करने के लिए हाथीगुफा शिलालेख से और भी अनेक उदाहरण मिल सकेंगे। शासन के आठवें वर्ष मे 'यवनराज' को युद्ध मे पराजित करने के लिए उन्हे मथुरा तक जाना पडा था, शिलालेख से ऐसा बोध होता है। मथुरा मे निवास-काल के समय उन्होंने वहा के निवासियो, पारिवारिक जनो, राजसेवको, ब्राह्मणो, जैन श्रमणो (अरहत समणा) को आमोद-प्रमोद एव भोज के द्वारा आप्यायित (तृप्त) किया था। मथुरा से वापस लौटने के पश्चात् भी कलिंग मे उसी प्रकार के एक भोज का आयोजन किया था।

इस वर्णन से यह बोध होता है कि बौद्ध और आजीवको को इसमे सम्मिलित नही किया गया था। इससे ऐसा लगता है कि कलिंग की तरह मथुरा मे भी केवल जैन और हिन्दू धर्म का प्राधान्य था। बौद्ध धर्म का अस्तित्व वहा नही था। यदि था भी तो वह नही जैसा था। कारण, बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा के लिए वहा पर मूलत अनुकूल परिस्थिति नही थी, ऐसा कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा। उत्तर भारत मे जैन धर्म का केन्द्र-स्थल मथुरा था। जैन उपासक खारवेल के सहयोगी थे, इसलिए मथुरा मे 'यवनराज' का टिकना और आधिपत्य असहनीय हो गया था। फलस्वरूप अपने धर्म को विपद्-मुक्त करने के लिए वे मथुरा तक अमित विक्रम के साथ अग्रसर हुए थे। खारवेल के आक्रमण ने मथुरावासियो के मन मे आतक उत्पन्न नही किया था, अथवा अग और मगध के अधिवासियो की तरह प्राण-भय से उन्होने धन-रत्न आदि भी खारवेल को उपहृत नही किए थे। इसके सिवाय जैन धर्मावलम्बी मथुरावासियो के मन मे सतोष पैदा करने के लिए खारवेल ने जिस आमोद-प्रमोद की व्यवस्था की थी, वही

प्रणिधान का विषय है।

मथुरा से वापस लौटते समय खारवेल खाली हाथ नही लौटे थे। कलिग मे उनके द्वारा गुल्म और लताकीर्ण कल्पवृक्ष भी लाया गया था। जैन शास्त्रो मे लिखा है कि केवल चक्रवर्ती सम्राट् ही कल्पवृक्ष को लगाने मे समर्थ होते है। कलिग मे कल्पवृक्ष को लाने के लिए चक्रवर्ती सम्राट् खारवेन सर्वथा योग्य थे, इससे स्पष्ट समझा जाता है। शासन का अधिकाश समय खारवेल ने युद्ध-यात्रा और राज्यो को जीतने मे ही विताया था। जैन धर्म के उपासक होकर भी उन्होने हिंसात्मक मार्ग का अवलम्बन कैसे लिया, यह विचारणीय है। जैन धर्म का मूल मन्त्र अहिंसा और जीव-दया है। उनके राजनैतिक और साम्राज्यवादी जीवन पर वह किसी प्रकार से प्रभाव डालने मे समर्थ नही हुआ। खारवेल के व्यक्तिगत जीवन की यह एक प्रधान विशेपता रही है। वास्तविक दृष्टि से देखें तो भारत के जैन सम्राटो ने अहिंसा को जैन धर्म के मूल मन्त्र के रूप मे स्वीकार किया था, लेकिन उसके द्वारा उन्होने अपने को अनुप्राणित नही किया था।

जैन सम्राट् महापद्म उग्रसेन और मौर्य साम्राज्य के प्रतिष्ठाता चन्द्रगुप्त मौर्य आदि ने अपना समग्र जीवन सग्राम-युद्ध की परिधि के वीच ही विताया था, ऐसा प्रमाण मिलता है। लगता है अहिंसा के आदर्श का प्रभाव राजनीति पर नही पडा था। इसके अतिरिक्त यह विश्वास करना उचित लगता है कि जैन सम्राट् अपने को दिग्विजयी, वीर प्रतिष्ठित करने मे अधिक उत्सुक थे। खारवेल ने भी उन्ही के मार्ग का अनुगमन किया था।

खारवेल जन्मना जैन थे। जिस वश मे उन्होने जन्म ग्रहण किया था, 'चेति' वश जैन धर्म का समर्थक था। मौर्य सम्राट् अशोक के समान उन्होने जीवन के मध्याह्न मे एक धर्म को छोडकर दूसरे किसी नये धर्म को स्वीकार नही किया था। ई० पू० २९१ मे कलिंग युद्ध ने अशोक के वैयक्तिक जीवन मे एक विराट् परिवर्तन का मार्ग खोल दिया था। कलिग युद्ध के पश्चात् सम्राट् अशोक का राजनैतिक जीवन गौण हो गया था और धार्मिक मनोवृत्ति मुख्य हो गई थी। अशोक का अवशेष जीवन प्रजाजनो के आध्यात्मिक

विचारो की उत्कर्षता सम्पन्न करने मे व्यतीत हुआ था। लेकिन युद्ध की भयावहता और रक्त-ताण्डव खारवेल के अविचलित मन मे कोई परिवर्तन उत्पन्न नही कर सका था। राजनीति और धर्मनीति इन दोनो को वे अलग-अलग दृष्टि से देखते थे। अशोक के समान उन्होंने धर्म को इतनी गम्भीर तन्मयता के साथ स्वीकार नही किया था, ऐसा अनुमान होता है।

सम्राट् खारवेल जैन थे, यह बात असदिग्ध है किन्तु उनके जैन धर्म की परिधि की आलोचना करने से हमे नाना प्रकार की जटिलता के सम्मुखस्थ होना पडता है। बाल्यकाल मे उन्होंने जिस विद्या-शिक्षा को ग्रहण किया था, वह बहुत वास्तविक श्रेणी की थी। उसमे आध्यात्मिक शिक्षा की गध भी नही थी। उनका अभिषेक-उत्सव लगता है ब्राह्मण धर्म की विधि से सम्पन्न हुआ था। उनकी शासन-प्रणाली हिन्दू आदर्शों के अनुसार परिनिर्मित हुई थी। ऐसा अनुमान होता है कि शासन-प्रणाली पर अर्थ-शास्त्र का अधिक प्रभाव पड़ा था। उन्होंने युवराज अवस्था मे कौटिल्य नीति का अनुसरण कर अपने को प्रजावत्सल और विनयी के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था।

ई० पू० २९१ की विजय के बाद अशोक ने कलिंग से धन, रत्न आदि ग्रहण किए हो, इसका प्रमाण कही से भी प्राप्त नही होता है। उनकी विजय और विजय के उत्तरवर्ती समय का व्यवहार खारवेल की विजय से सर्वथा भिन्न था। अशोक की अपेक्षा खारवेल ने अधिक राज्यो पर विजय की थी। उनका उद्देश्य केवल राज्यो पर विजय करना ही नही था, विजित राज्यो से कर ग्रहण कर, उसी अर्थ का व्यय उन्होंने जैन और कलिंग नगर की उन्नति को पूर्ण करने के लिए किया था, हाथीगुफा शिलालेख से ऐसा प्रमाण हमे मिलता है। दिग्विजयी के रूप मे उन्होने अग, मगध एव पाण्ड्य राजा को 'कर' देने के लिए बाध्य किया था। जैन धर्म मे साधना के लिए 'दारिद्र्य' आकिञ्चन्य ही साधको का प्रथम आलम्बन एव सोपान है। ससार के समस्त मोहमाया का परित्याग कर जैन

साधक अकिंचन वन साधना मे रत हो जाते हैं। किन्तु जैन सम्राट् खारवेल के जीवन का उपादान दूसरे ही रूप से गठित हुआ था। वे धन-रत्न आदि का परित्याग नही कर सके थे, किन्तु दूसरो का धन ग्रहण कर अपने साम्राज्य की उन्नति का सर्जन करते थे।

खण्डगिरि और उदयगिरि की ब्राह्मीलिपि

खारवेल के हाथीगुफा का शिलालेख

नमो अरहतान[1] नमो सव्वसिद्धान[2] एरेण[3] महाराजेन महामेघ वाहनेन चेत[4] राजवस वधनेन पसथसुभ लखनेन चतुरत (रखणे[5]) गुण उपेतेन[6] कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेल पद रस वसानि सिरि कडार सरिरवता किडिता कुमार किडिका ततो लेख रूप गणना-ववहार विधि विसार-देन मव-विजावदातेन नववसानि योवराजव[7] समित सपुण चतु वीसति वसे तदानि वधमान मेसयो जनाभिजयो ततिये कलिंग राजवसे पुरिस युगे[8] महाराजा भिसेचन[9] पापुनाति अभिसित मलोच[10] पधमे[11] वसे वात विहित

---

१ ओ

२ जैनशास्त्र के पंच नमस्कार में से ये दो अन्यतम हैं।

३ Dr B M Barua ऐरेण

४ Dr D C Sircar 'चेति'

५ Dr D C Sircar लुठण

६ Dr D C Sircar & K P Jayaswal उपितेन

७ Dr D C Sircar 'प'

८ Dr B M Barua राजवशे

९ K P Jayaswal महा

१० Prinsep 'मते'

११ Lal Modragi 'पधम

गोपुर पाकार— निवेसन पटि सखारयति कलिंग नगरी खिबीरे[1] मितल तडाग-पाडियोच बद्यापयति-सवुयान परिसथपन च कारायति पनीत साहि[2] मतसह सेहि पकतियो रजयति[3] दुतियच वसे अचितयिता मातकनि[4]
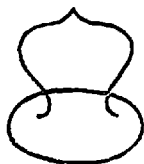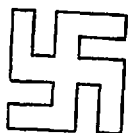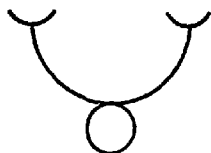
पच्छिम-दिस हय-गज-नर-रथ-बहुल दड पठा पयति कलिंग[5] मतायच सेनाय वितासेति असक नगरम्[6] ततिये[7] पुनवसे गधव-वेद बुधो दपनत-गीत-वादित मदसनाहि उसव समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरीम्

तथा[8] चतुर्थे वसे विजाधराधिवास अरकत-पुरम्[9] कलिंग-पुव राजानम्[10] धमेन व नीतिनाव पमामति सवत धमकुटेन[11] मीत-तसितेच

१ Dr B M Barus 'गभीरे'

२ K P Jayaswal पणती साहि

३ Indraji ने मूल मे इजयति पढा था ।

४ K P Jayaswal और Barua 'सतकणिम्'

५ K P Jayaswal कहुवेनाम् और Dr D C Sircar 'कहवेंणा'

६ D C Sircar असिकनगर

७ Indraji 'ततियेच'

८ Indraji—इथ' Barua, Jayaswal और Sircar 'तथा'

९ D C Sircar अहतपूव

१० Indraji 'वलिंग-पुदराज'

११ Indraji 'घमकुटस' K P Jayaswal 'दिति-धमकुट'

निखित छत-भिंगारे-हित-रतन-सापतेये[1] सव-रठिक भोजक पादे वदापयति पचमे च दानिवसे नदराज तिवमसत[2] ओघाटितम् तनु सूलियवाटा पणाडि नगर पवेसयति सत सह् सेहिच खनापयति अभिसितोच छहे वसे राजसिरि[3] सदसयतो सद-कर वण-अनुगह् अवेकानि सतसह् सानि विमजति पारे-ज्ानवद सतमेच[4] वस[5] असि-छत धज-रध-ररिख तुरगसत-घटानि सदति सदसन सद मगलानि कारयति सत सह् सेहि[6] अठमेच[7] वसे महता[8] सेनाय मघुर अनुपणे। गोर धर्मिरि धातापथिता-राजगहान पपीडा पयति[9] एतिनच कम पदान[10] पनादेन समीत सेन वाह्ने विपमुचितु मधुर अपयातो यवन-राज[11] सवघर[12] वासिनच सद गहतिनच सपान भोजन सदराज भिकान च। सवगह् पतिकान च शव ब्रह्मणानं पान भोजन ददाति। कलिंगजिन[13] पलवभार कपरुख[14] ह्य गज-नर-रध सहयाति सद घर वासिन च सव

---

१ D C Sircar 'सपतये'।

२ Indraji और Jayaswal तिदस सतम्' Barua और Sircar 'तेवस सत'।

३ D C Sircar 'राजसय'।

४ B M Barua 'सतम'।

५ B M Barua 'वसे'।

६ D C Sircar ने इस पक्ति को भिन्न रूप से पढा है, और उनका पाठ सपूर्ण नही है।

७ Prinsep ने 'च' नहीं पढा है।

८ Barua 'महति सेनाय।

९ Prinsep राज गउम् Indraji राजगह्-नताम् पीतापयति Jayaswal राजगहम् उपपीतापयति' Sircar राजगह उपपीतापयति।

१० Jayaswal 'कमापदान'।

११ B M Barua 'ये वन उदो' Jayaswal 'यवनराज'।

१२ Jayaswal दीमित' वा 'जिमिति'।

१३ Barua 'कलिंग याति'।

१४ Cunningham कपम् उख Indraji 'कपरुखो' Jayaswal 'कल्परुखे' वा 'कपरुखे।

राज भतकानच सवपह्, मतिकान च सव ब्रह्मणानच[1] पान भोजन ददाति अरहृतान समणानच ददाति सतसह् सेहि।

नवमे च वसे वेडुरीय कलिंग राज निवास मह् विजय पासाद कारयति अठ तिसाय सतसह सेहि दसमेच वसे कलिग राज वसान ततिय युग सगाव साने कलिग युव राजान मस सकार[3] कारापयति सतसह् सेहि। एका दसमे च वसे मणिरतनादि सहपाति[1] कलिंग युवराज निवेसित पिथुउष[4] दभ नगले नेकासयति[5] अनुपद भवन च तेरस वस सन कत भिदति चिमिर दह्[6] सघात बारसमे च[7] वसे मतसह् सेहि वितासयति उत्तरा पधरा राजनो मागधान च विपुल भय जनेतो हृथीस गगाय[8] पाययति मगधान च राजान वहसति भित पादे वदापयति नदराज नीत[9] कलिंग जिन सनिवेस अग मगधतो कलिंग आनेति हय-गज-सेन-वाहन सह सेहि अग-मगध-वासिन[10] च पादे वदापयति। वीथि-चतर पलिरवानि[11] गोपुरानि सिहरानि निवेस-यति। सुतवासुको[12] रतन पेसयन्ति[13] अभूत मछरिय चहथी निवास[14] परि

---

१ D C Sircar सदगहण च कारयितु ब्रह्मणाया जयपरिहार।

२ D C Sircar दड-सघी साममयो भरधवस पठान महजयन। दसवें वर्ष के वर्णन को पढ़ नही सके।

३ Prinsep 'उपहि' Indraji 'उपलभता' Jayaswal 'उपलभत' Sircar 'उपलभते'।

४ D C Sircar 'पुवराज निदेसित'।

५ D C Sircar 'पीथुड गदभन गलेन कासयति'।

६ D C Sircar 'जनपद भाजानच तेर सवस सतकत भिदत कमिरदह्'।

७ Indraji 'बारसम'।

८ Prinsep हृथस गगस Jayaswal हथीसुगगीय्रम्।

९ Barua नन्दराजनीत कालिंग जिनासनम्।

१० Sircar अगमगध वसु।

११ K P Jayaswal 'त' जठर लिखिल वरानि D C Sincar कतु जठर लिखिल।

१२ D C Sircar 'सत वसिकन'।

१३ D C Sircar 'परिहारोहि'।

१४ Barua हथीसपसदम्।

हरन्ति[1] मिग-हय-हथी उपनामयन्ति[2] पडराजा विवधा भरणानि सुतामणि रतनानि आहरापयति दूघ सत सहसानि सिनो वसो कारेति तेरसमे च वसे सुभावत विजयेन कुमारो पर्वते अरहणे परिनिवसतो हि कायनिसी दियाय राजभतकेहि राजभातिहि राजनीतिहि राजपुतेहि राजमहिसि खारवेल सिरिना सतवस लेणसह करापितम्[3]।

सकति समता[4] सुविहितानच सवदिसान[5] अनन तापस इसिन सपियन[6] अरहत निशी दिया[7] समीपे पभारे वराकर ममुथापिताहि अनेक मोजनाहि ताहि पनति साहि सतसेहि—सिनाहि सिनथ भानि च चेति यानिच कारापयति पटलिक चतरे च वेडरीय-गभे थभे पटि ह्रापयन्ति पनतरिय सतसह सेहि मुरिय कल वोच्छिन[8] चेचयति अघसतिक तिरिय[9] उपादयति खेमराजस वढराजस[10] इदराजस[11] धमराजस पसतो सनतो अनुभवतो कलाणानि गुण विशेष कुशलो सव पासड
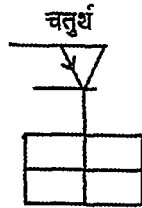
वृक्षचैत्य

१ D C Sircar 'परिहर'।

२ D C Sircar 'रतन माणिकम्'।

३ D C Sircar ने (इसे भिन्न रूप से पढा है) तेरसमे य वसे सुपवत विजय चके अरहुतहि परवेन ससितसेहि-कायजिसि-दियाय यापु जाव केहि रज भितिक भिन वतानि वासोसितानि पुजानुरत-उपासग-खारवेल सिरिना जीवदेह सयिना परिखाता।

४ Jayaswal सुकति।

५ Barua सतदिसान।

६ Barua यति न तापस इसिन लेण कारयति।

७ Indraji 'निसिदिय'।

८ D C Sircar 'मुखिय-कल'।

९ D C Sircar 'अगतक तुरिय'।

१० Barua वधराजस।

११ Sircar 'भिखुराजम'।

पूजको सव देवायतन सकार कारको अपतिहृत चको वाहनवलो चक धरो गुतचको पवतचको राजसिव मुकुल विनिसितो[1] महाविजयो राजा खारवेल मिरि।

खण्डगिरि और उदयगिरि के अन्यान्य शिलालेख

१ वैकुण्ठ पुरीगुफा

अरहतम् पमादायम्[2] कालिगानम्[3] समनानम् लेणम्—कारितम् राजिनो लालाकम हथिम हम पपोतम[4] धतूना कलिग चकवतिनो मिरि खारवेलस अगमहिसिना कारितम्।

२ मचपुरी गुफा

एरम महाराजम कलिगाधिपतिनो महामेघवाहनम कदप सिरिनो[6] लेणम्।

३ कुमार वदुकस लेणम्[7]

४ छोटी हाथीगुफा—

अगि ख पलेणम्[8]

५ सर्प गुफा

चुलकमम कोठजेय च

६ किमस हलखिताय च पमादो

---

१ Barua 'राजिमि-वश-कुलविनिमितो'।

२ Barua पसादानम् Sircar पसादाय।

३ Cunningham 'विनिगानम्'।

४ Barua 'हथिमाहस पनातस्'।

५ R D Banerjee 'खरम' D C Sircar 'एरस'।

६ Sircar वकदेगसिरिनो R D Banerjee कुलेपसिरि।

७ Rajendra L Mitra 'लेणम्'।

८ R D Banerjee केइ स पाठ को B M Barua ने पूर्णतया काल्पनिक कहा है।

७ हरिदास गुफा

चुलकमस पसादो कोठाजेयाच

८ व्याघ्र गुफा

नगर अखदश[1]

सभूतिनो लेणम्[2]

९ जमेश्वर गुफा

महामदास वारियाय नाकिनाम लेणम्

१० तत्व गुफा

पादमुकुलिस कुसुमास लेणम् फि[3]

११ अनन्त गुफा

दोहद समाणानम लेणम्[4]

१२ कोठाजेया

१३ तत्वगुफा

रीपुतसकया

खण्डगिरि और उदयगिरि के ये शिलालेख प्राचीन ब्राह्मीलिपि मे लिखे गये हैं। ये सब ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्त मे या उसके अनन्तर लिखे गये थे। कारण, खारवेल का हाथीगुफा शिलालेख और नायनिका के नानाघाट शिलालेख की तुलना कर ऐतिहासिको ने अपना अभिमत प्रकट किया है कि हाथीगुफा शिलालेख नानाघाट के उत्तरवर्ती युग का है। नानाघाट शिलालेख ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य मे लिखा गया था, ऐसा डॉ० दिनेशचद्र सरकार का मत है। इसलिए हाथीगुफा, खण्डगिरि और उदयगिरि के शिलालेख ई० पू० प्रथम शताब्दी के अन्त मे एव ई० प्रथम शताब्दी मे लिखे गए थे, ऐसा विश्वास करना उचित है।

---

१ B M Barua 'नगर अखदसस् भूतिनो लेणम्'।

२ Prinsep और R L Mitra ने भूल से 'लोणम्' पढ़ा था।

३ B M Barua 'पादमुनिमक कुसुमस लेणानि।

४ B M Barua समाणानम—लेणम्'।

शिलालेख की भाषा बहुत अशो मे पालि भाषा के समान है। वास्तव में कुछेक शब्दो को छोड देने पर शेष सभी शब्द पालि भाषा के हैं। इन शिलालेखो की भाषा पर साधारणतया अर्ध-मागधी का प्रभाव भी अप्रतिहत रूप से पडा है। अशोक के गिरनार शिलालेख को पढने से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि वह पालि और किसी पश्चिम भारतीय प्राकृत भाषा का एकत्र सम्मिश्रण मात्र है। उसी प्रकार पालि के साथ हाथीगुफा शिलालेख मे व्यवहृत भाषा के साम्य का विचार कर इसे भी कलिंग की व्यवहृत प्राकृत भाषा कहा जाये तो अयौक्तिक नही है। यहा एक प्रश्न उठ सकता है कि साधारणत पालि बौद्धो की भाषा है, खण्डगिरि और उदयगिरि के जैन शिलालेखों पर उसका प्रभाव कैसे पडा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ऐतिहासिक प्रमाण कुछ नही हैं। इसलिए यह बहुत स्वाभाविक है कि किसी पश्चिम भारतीय जैन उपासक या बौद्ध धर्म का त्याग कर जैन धर्म को स्वीकार करने वाले किसी श्रमण द्वारा खण्डगिरि और उदयगिरि के शिलालेख रचित होने के कारण पालि भाषा के साथ इतनी समानता रही हो। अथवा यह भी हो सकता है कि पालि भाषा मे रचित प्रशस्ति को गुफाओ मे लिखने के लिए किसी जैन श्रमण को दायित्व दिया गया हो, जिससे लिखने के समय अर्ध-मागधी के व्यवहार ने उक्त जैन लेखक को प्रभावित किया हो।

उस समय कलिंग की प्रचलित भाषा क्या थी, यह बतलाना सम्भव नही है।

हाथीगुफा और अन्यान्य शिलालेख गद्य मे लिखे गये हैं, किन्तु फिर भी उनकी रचना सरस और सुबोध है एव उनमे काव्यिक बोध यथेष्ट परिमाण मे है। चक्रवर्ती खारवेल और उनकी महारानी के शिलालेख के अनेक अश काव्यात्मक शैली मे लिखे गये हैं। काव्यात्मक शैली की यह सयोजना ही खण्डगिरि एव उदयगिरि के शिलालेख को इतना अधिक मनोमुग्धकारी कर सकी है।

कलिंग मे खारवेल के उत्तरवर्ती युग मे जैन धर्म की अवस्था

०

पूव परिच्छेद मे कहा गया है कि सम्राट् खारवेल के पश्चात् ऐर-महाराज महामेघवाहन कुदेपसिरि या कन्दर्पश्री ने कलिग सिहासन को सुशोभित किया था। उनके बाद चेतिवश की क्या स्थिति रही, यह जानना सभव नही है। मञ्चपुरी गुफा मे जिम कुमार वड़ुख के नाम का उल्लेख हुआ है, कन्दर्पश्री के उत्तराधिकारी के रूप मे उन्होने शासन किया हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। किन्तु उस समय चेतिवश की पूर्व समृद्धि और शक्ति लुप्तप्राय हो चुकी थी। डॉ० कृष्णस्वामि अय्यगार के दो तमिल ग्रन्थ है—'शिलप्पदिकारम्' और 'माणिमेखलै'। उनमे वर्णित कुछेक विवरण मे तत्कालीन कलिग का परिचय प्राप्त होता है।[1] उक्त ग्रथ-द्वय मे कलिग राजवश के एक भ्रातृ-विवाद का वर्णन सन्निविष्ट किया गया है। इससे जाना जाता है कि उस समय कलिग राज्य दो भागो मे विभक्त हो गया था। एक राज्य की राजधानी 'कपिलपुर' और दूसरे की राजधानी 'सिहपुर' थी। इन दोनो मे जो दो भाई राज्य करते थे, सभवत वे चेति वशोत्पन्न और खारवेल के वशधर थे। इन दोनो भाइयो के मध्य तुमुल

१ Ancient India and South Indian History and Culture, Vol 1, pp 401-402

युद्ध होने के कारण कलिंग नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और अन्त मे एक वैदेशिक आक्रमण के मुह मे चला गया था।

ये वैदेशिक आक्रमणकारी कौन थे और इनके शासनकाल मे कलिंग मे जैन धर्म की कैसी स्थिति थी, इस पर आगे विचार किया जाता है।

जगन्नाथ मन्दिर स्थित ताडपत्नीय प्रति मे लिखा है कि कलियुग के आरम्भ मे धर्मपुत्र युधिष्ठिर को मिलाकर अठारह राजाओ ने पारम्परिक क्रम से कलिंग मे २७८१ वर्ष तक शासन किया था। शोभनदेव इसी राज-परम्परा के राजा होते हैं। इनके समय मे दिल्ली के मुगल बादशाह के सेनापति रक्तबाहु ने चिलिका झील के मार्ग से आकर उडीसा पर आक्रमण किया था, अन्त मे अठारहवें राजा के समय उडीसा पूर्ण रूप से इन्ही मुगलो के हस्तगत हो गया था। मुगलो ने उडीसा मे ४७४ ई० अन्त तक १४६ वर्ष शासन किया था और इसके बाद ययातिकेशरी द्वारा वे परास्त होकर भाग खडे हुए थे, ऐसा ताडपत्नीय प्रति मे वर्णित है।

इसमे कुछ काल्पनिक विषय सन्निविष्ट हो गये हैं, किन्तु फिर भी मूलत यह एक सत्य पर आधारित है ऐसा जाना जाता है। कारण, प्राचीन उडीसा मे एक विदेशी राजवश द्वारा प्रचलित की गई असख्य मुद्राए अभी मिली है। ये सिक्के सभी कुषाण मुद्रा के अनुकरण से तैयार हुए हैं, इसलिए पुरातत्त्वज्ञ उसे 'कुषाण मुद्रा' कहते हैं। सर्वप्रथम ये मुद्राए पुरी के पास मिली थी। उन्नीसवी शताब्दी के मुद्रा-विशेषज्ञ हर्णले और रेप्सन इन मुद्राओ को 'पुरी कुषाण मुद्रा' कहते थे।[1] उनके विचार से ये मुद्राए यहा के किसी राजवश द्वारा प्रचलित नही की गई थी, जगन्नाथ महाप्रभु के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियो के साथ आयी थी। जिस समय मुद्राए पुरी के निकटवर्ती स्थानो से अल्पसख्या मे मिली थी, उस समय उन विद्वानो की बात स्वीकार्य हो सकी थी। किन्तु धीरे-धीरे बाद मे उडीसा के उपकुलवर्ती प्रदेशो मे गञ्जाम जिले से लेकर मयूरभज जिले तक और इसी

---

१. Proceedings of Asiatic Society, Bengal 1895, p 63

तरह छोटा नागपुर तक हजारो-हजारों सख्या मे ये मुद्राए मिली हैं।[१] इसलिए यह तर्क बहुत लचीला हो गया कि जगन्नाथ प्रभु के दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियो द्वारा ये आनीत हैं। इस प्रकार असदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो गया है कि ये सब यहा के किसी वैदेशिक शासक द्वारा प्रचलित की गई थी। उडीसा मे इन मुद्राओ को प्रचलित करने वाले वैदेशिक शासक कौन थे, वे किस वश के थे और कब और कहा से आये थे—इन सब प्रश्नो का समाधान सहज साध्य नही है। राखालदास बनर्जी का कहना है कि ये वैदेशिक शासक होते हैं 'कुषाण'[२]। कारण, इन मुद्राओ मे से अनेक मुद्राए ठीक कुषाण प्रचलित मुद्रा जैसी ही हैं। कुषाण मुद्राओ मे जिस प्रकार एक तरफ कनिष्क, अभिष्क और राजा वासुदेव का चित्र है और दूसरी तरफ माओ (चन्द्र), अस्त (अग्नि) और माडो (वायु) आदि देवताओ के चित्र हैं उसी प्रकार उडीसा मे मिलने वाली वैदेशिक मुद्राओ मे से कतिपय मुद्राओ मे ये ही सब चित्र और प्रतिमा देखी जाती हैं। डॉ० आर्यवल्लभ महन्ती ने राखालदास बनर्जी की युक्ति को स्वीकार किया है।[३] इतिहासकार विद्वान् एस० के० बोस का कहना है कि कुषाण राजाओ ने अपने साम्राज्य का विस्तार बग देश तक कर लिया था,[४] किन्तु कुषाण साम्राज्य बनारस का अतिक्रमण कर पूर्व प्रान्तो मे आ गया था, इसका कोई पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाण अब तक नही मिला है। इसलिए कुषाण साम्राज्य पूर्व मे बग-देश तक परिव्याप्त हो गया था, यह युक्ति निराधार प्रतीत होती है। कुषाण साम्राज्य यदि बग देश तक व्याप्त नही हुआ था तो उसके उडीसा तक अग्रसर होने की बात सर्वथा असत्य प्रतीत होती है। ऐसा होने पर पुरी-स्थित ताडपत्रीय प्रति मे वर्णित मुगल आक्रमण कुषाण आक्रमण नही हो सकता। कुषाण के अतिरिक्त कोई दूसरा एक वैदेशिक आक्रमण हुआ हो, ऐसा निश्चित होता है।

१ O H R J, Vol 11, p 113

२ History of Orissa, Vol 1, p 113

३ पुरी स्थित ताडपत्रीय प्रति।

४ Indian Culture, Vol III, 729

डॉ० नवीनकुमार साहू ने अभी प्रमाणित किया है कि पुरी-स्थित ताडपत्रीय प्रति मे वर्णित उडीसा मे मुगल आक्रमण और शासन होता है, मुरुण्ड आक्रमण और आधिपत्य।[1] इन्ही मुरुण्डो का विषय (राज्य) पुराण, जैन शास्त्र और ग्रीक एव चैनिक (चीन देशीय) लेखको की विवरणी मे मिला है। पुराण के अनुसार तुखार (कुषाण) के बाद १३ मुरुण्ड राजाओ ने २८० वर्ष शासन किया था।[2] इनके वर्णन से जैन शास्त्र भी भरे पडे हैं। कारण, मुरुण्ड जैन थे और जैन धर्म के समर्थक थे।

'सिहासन द्वात्रिंशिका'[3] नामक जैन ग्रन्थ मे पता चलता है कि मुरुण्ड राजाओ की राजधानी कान्यकुब्ज थी। किन्तु कान्यकुब्ज मे मुरुण्ड राजाओ ने अधिक समय तक शासन किया हो, ऐसा नही लगता। 'सिहासन द्वात्रिंशिका' के मुरुण्ड राज कुषाण के अधीनस्थ एक सामन्त राजा हुए हो, ऐसा निश्चित होता है। 'बृहत्कल्पवृत्ति' नामक एक दूसरे जैन ग्रथ से पता चलता है कि मुरुण्डो की राजधानी पाटलिपुत्र थी।[4] और इसी ग्रन्थ मे वर्णित मुरुण्डराज की विधवा पत्नी ने जैन धर्म स्वीकार कर इसी धर्म की अभिवृद्धि के लिए जीवन उत्सर्ग किया था। जैन पुराणो मे और भी पता चलता है कि पादलिप्त नाम के एक जैन आचार्य ने पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा के शिरोरोग की चिकित्सा कर स्वस्थ किया था।[5] लगता है, ये पादलिप्त उज्जयिनी के विक्रमादित्य के जैन आचार्य सिद्धसेन के सम-सामयिक थे।

ग्रीक भौगोलिक टालेमि[6] पूर्व भारत मे मुरुण्ड राज्य की भौगोलिक

---

१ A History of Orissa, Edited by Dr N K Sahu, pp 331-335

२ Dynastic History, Kalinga Age by Pargiter, p 46

३ Dr Prabodh Chandra Bagchika, Indian History Congress के छठे अधिवेशन मे अध्यक्षपद से दिया गया भाषण द्रष्टव्य है।

४ Abhidhan Rajendra, Vol II, p-776

५ Indian Culture, Vol III, p 49

६ Indian Antiquary, Vol XII, 337

सीमा-रेखा का निर्णय कर गये हैं। उनके लेख मे पता चलता है कि, ई० द्वितीय शताब्दी मे मुरुड राज्य तिरहुत से गगा नदी के मुहाने तक व्याप्त था। चीन देश के उ (Woo) राजवश की विवरणी से पता चलता है कि ई० तृतीय शताब्दी मे मुरुण्ड पूर्व भारत मे राज्य करते थे। फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वालेमि ने भी इस बात का प्रतिपादन किया है। उडीसा मे रक्तबाहु का आक्रमण पूर्व भारतीय मुरुड आक्रमण था एव यहा पर मिलने वाली तथाकथित असख्य मुद्राए इसी मुरुड द्वारा प्रचलित थी। सन् १९४८ मे शिशुपालगढ के निकट जो पुरातात्त्विक भू-खुदाई हुई थी उससे उडीसा मे जैन मुरुण्ड शासन का सुस्पष्ट प्रमाण मिला है। इस खुदाई से प्राप्त एक स्वर्णमुद्रा के सम्बन्ध मे आलोचना करते हुए डॉ० अनन्त सदाशिव आलटेकार ने कहा है कि वह महाराजाधिराज धर्मदामधर नाम के किसी एक मुरुण्ड राजा की प्रचलित मुद्रा है। डॉ० आलटेकार ने और भी कहा है कि ये मुरुण्ड राजा उडीसा मे ई० तृतीय शताब्दी मे शासन करते थे और वे थे जैन।[१]

शिशुपालगढ से एक छोटा मृन्मय फलक मिला है। लगता है, वह एक सील मोहर(सिक्का)है। उस पर लिखा है कि, 'अमरस पसनकस्स' अर्थात् 'अमात्यस्य प्रसन्नकस्य'। अनुमान किया जा सकता है कि यह फलक अमात्य प्रसन्नक की सील मोहर हो। इस फलक पर अकित अक्षर और उपरोक्त स्वर्णमुद्रा पर व्यवहृत किये गये अक्षर एक सामयिक हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह सही है तो प्रसन्नक को महाराज धर्मदामधर का अमात्य स्वीकार किया जा सकता है।[२]

डॉ० नवीनकुमार साहु ने प्रमाणित किया है कि उडीसा मे मुरुण्ड शासन ई० द्वितीय शताब्दी के अन्तिम समय मे ई० चतुर्थ शताब्दी के

---

१ Ancient India No 5 Sisupalgarh Excavation Report

२ इस प्रसग मे O H R T, Vol 2, S C De का प्रकाशित प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

मध्यभाग तक प्रचलित था।[1] किन्तु पुरी-स्थित ताडपत्नीय प्रति के अनुसार मुगल शासन ई० अ० ३२८ से ४७४ ई० अ० तक चला था। डॉ० नवीन-कुमार साहू ने पुरी-स्थित ताडपत्नीय प्रति के इस मुगल शासन को मुरुण्ड शासन स्वीकार किया है इसी शासन के काल-निर्णय से पुरी-स्थित ताडपत्नीय प्रति का जो सशय प्रकट किया है उसे ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर सशोधित किया है। इस प्रसग मे बौद्ध ग्रन्थ दाठा धातुवश मे उल्लिखित होने वाले बुद्धदन्त का उपाख्यान भी आलोच्य है। इस पुस्तक से पता चलता है कि चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ काल मे गुहशिव कलिग के राजा थे। सभवत ये गुहशिव मुरुण्ड राजा थे। वे पहले जैन थे और बाद मे अपनी राजधानी दन्तपुर मे बुद्धदन्त की महिमा से मुग्ध होकर वे बौद्ध हो गये थे। पाटलिपुत्र के जैन राजा पाण्डु इससे विक्षुब्ध हो गये थे। डॉ० नवीनकुमार साहू ने पाण्डु राजा को भी एक मुरुण्ड राजा माना है। कलिग के गुहशिव पाण्डु राजा के सामन्त राजा के रूप मे दाठा धातुवश मे वर्णित हुए हैं।

गुहशिव के धर्म-परिवर्तन के कारण क्रुद्ध होकर पाण्डु राजा ने उन्हे अपनी राजधानी पाटलिपुत्र मे बुद्ध दन्त के साथ पकडकर लाने का आदेश दिया था। पाटलिपुत्र मे दन्तधातु को नष्ट करने के लिए उन्होने नाना प्रकार की चेष्टा की, किन्तु सफल नही हुए। अन्त मे दन्त की अद्भुत शक्ति को देखकर स्वय भी बौद्ध हो गये थे। बाद मे इसी दन्त पर अधिकार करने के लिए कलिग के पडोसी राजाओ ने कलिग पर आक्रमण किया था। क्षीरधर इन्ही आक्रमणकारियो मे से होते है प्रधान। श्री सुशीलचन्द्र ने इन्ही क्षीरधर को भाकाटक राजा और प्रवरसेन एक है, ऐसा अनुमान किया है।[2]

युद्ध मे गुहशिव ने प्राण छोड दिये, किन्तु मृत्यु के ठीक पूर्व उन्होने

---

१ History of Orissa Edited by Dr Sahu, Vol II, p 334

२ O H R J, Vcl III, No 2, p 108

अपनी पुत्री हेममाला और जामाता दन्तकुमार के हाथो बुद्धदन्त को सिहल में पहुचा दिया। हेममाला और दन्तकुमार जिस समय सिहल में पहुचे, उस समय वहा पर राजा थे महादिसेन। इनके शासनकाल का समय होता है ई० अ० २७७ से ३०४ तक।[1]

इसलिए यह सुनिश्चित है कि कलिग मे गुहशिव ने ई० तृतीय शताब्दी में शासन किया था।

मध्य-युग

यह हुआ प्राचीन युग का विवरण। वतमान मध्ययुगीय उडीसा मे जैन धर्म की स्थिति कैसी रही थी, इसे देखना चाहिए। कलिग मे मुरुण्ड शासन के पश्चात् गुप्तवश के आधिपत्य के प्रसारित होने की वात कतिपय इतिहासविद् विद्वान् करते हैं। गुप्त राजवश का राजनैतिक प्रभाव कलिग पर समुद्रगुप्त की दिग्विजय के वाद से पडा था, यह निश्चित है। इस राजनैतिक प्रभाव के साथ साथ साम्कृतिक प्रभाव भी अप्रतिहत रूप से पडा था, किन्तु इन सवकी छानवीन अव तक धारावाहिक रूप से नही हो सकी है।

गुप्तोत्तर युग मध्ययुग होता है। इस युग मे उडीसा के विभिन्न प्रदेशो मे जिन सुविख्यात राजवशो ने शासन किया था उनमे से उल्लेखनीय होते हैं—कलिग प्रदेश के गगवश, कगोदर शैलोद्भव वश, तोषल का भौमवश, खिञ्जलि मण्डल का भञ्जवश और कोशल उत्कल का सोमवश।[2] इन सोमवशीय राजाओ को पुरी-स्थित ताडपत्रीय प्रति मे केशरी वशीय कहा है। इन सव राजवश के शासनकाल मे व्राह्मण धम और विशेपतया शाक्त, शैव और वैष्णव धर्म की सवत्र प्रधानता देखी जाती है। यह युग उडीसा

१ Vakataka and Gupta Age by Dr A S Altekar and Dr R C Majumdar, vide chapter on 'ceylon, pp 231-261

२ इन राजवशो की पूण विवरणी के लिए डॉ० महताव द्वारा लिखित और डॉ० नवीनकुमार साहू द्वारा सम्पादित 'ओडिसा इतिहास' द्रष्टव्य है।

मे बौद्धो और जैनो के अध पतन का युग होता है।

उडीसा मे बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तान्त्रिकता का आश्रय लेकर वज्रयान और सहजयान आदि सम्प्रदायो मे परिणत हो गया था। इसके अतिरिक्त जैन धर्म ने तान्त्रिकता का आश्रय लिया हो, इसका सुस्पष्ट प्रमाण नही मिलता है। प्राचीन परम्परा की रक्षा कर जैन धर्म मध्ययुग मे भी गतिशील देखा जाता है। प्राचीन काल की तरह उडीसा मे जैन धर्म का केन्द्रस्थल उस समय खण्डगिरि था।

खण्डगिरि की कतिपय गुफाए—नवमुनि गुफा

बारभुजी गुफा और ललाटेन्दु केशरी गुफाए मध्ययुग मे ही निर्मित हुई थी। उडीसा के चारो ओर, विशेषकर केन्दुझर के आनन्दपुर क्षेत्र कटक जिले के चौद्वार क्षेत्र और कोरापुर के नवरगपुर क्षेत्र मे जैन धर्म के पुरातत्व सम्बन्धी अवशेष बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध हुए हैं। वे सब मध्ययुग के गौरव है। आज उन्हे देखने पर यह धारणा दृढ होती है कि जैन धर्म का प्रभाव मध्ययुग मे उडीसा के धार्मिक जीवन पर अप्रतिहत था।

उत्कल मे शासन करनेवाले सोमवशीय राजाओ मे से सबसे अधिक प्रसिद्ध राजा होते है उद्योत केशरी। कुछेक विद्वानो ने इन्हे ही ललाटेन्दु-केशरी कहा है। उद्योत केशरी शैव धर्म के समर्थक के रूप मे इतिहास-विख्यात है। उनके पिता ययाति महाशिव गुप्त ने भुवनेश्वर मे सुप्रसिद्ध लिंगराज मदिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ कराया था। उद्योत शैव भक्त थे, यह सत्य है, किन्तु जैन धर्म के प्रति भी उनकी प्रगाढ श्रद्धा और अनुरक्ति थी। खण्डगिरि की ललाटेन्दु केशरी गुफा उनका गौरव है, इसमे सन्देह नही है। जैन अर्हत और साधुओ के आश्रय-स्थल के रूप मे अतीत मे जिस तरह सम्राट् खारवेल ने अनेक गुफाओ का निर्माण कराया था उसी तरह उन्ही जैन सम्राट् के पदचिह्नो का अनुसरण कर उद्योत केशरी ने विश्रामस्थल के रूप मे तथा आराधना-मन्दिर के लिए खण्डगिरि पर अनेक गुफाए

बनवायी थी। केवल ललाटेन्दु केशरी गुफा ही नही, नवमुनि और बारभुजी गुफा भी इसी काल के गौरव है, ऐसा इतिहासज्ञो का कहना है। नवमुनि गुफा मे उद्योत केशरी के शासनकाल का एक शिलालेख अब तक रखा हुआ है। यह शिलालेख अकित हुआ या उद्योत केशरी के अठारहवें वर्ष के शासन-काल मे। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि ठीक इसी वर्ष राजा उद्योत केशरी ने इसी मन्दिर की परिसमाप्ति की थी। उद्योत केशरी की माता कोलावती ने भुवनेश्वर मे सुन्दर कला से चित्रित ब्रह्मेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया था। इससे पता चलता है कि शैव और जैन धर्म समानान्तर रूप से उस समय उडीसा मे प्रचलित थे एव राजा उद्योत केशरी दोनो धर्मो को समान दृष्टि से देखते थे।

नवमुनि गुफा के शिलालेख[१] से पता चलता है कि उद्योत केशरी के अठारहवें वर्ष के शासनकाल मे सुविख्यात जैन आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य आचार्य शुभचन्द्र तीर्थयात्रा के लिए खण्डगिरि पर आये थे एव वहा पर उन्होंने कई कीर्तिमान स्थापित किये थे। शिलालेख से यह भी जाना जाता है कि आचार्य शुभचन्द्र का उद्योत केशरी ने यथोचित सम्मान किया था। उपरोक्त आलोचना से स्पष्ट पता चलता है कि मध्ययुगीय उडीसा मे जैन धर्म समय-समय पर राजाओ के समर्थन के कारण समृद्ध होता रहा था। उडीसा के नाथ धर्म पर जैन धर्म का प्रभाव अतिमात्रा मे पडा है। यदि जैन धर्म विशेष रूप से समृद्धि-सम्पन्न नही होता तो ऐसा प्रभाव पडना सभव जैसा नही लगता। उत्तरवर्ती युग मे अरक्षितदास सम्प्रदाय और महिमा सम्प्रदाय आदि धर्म सस्थाओ पर जैन धर्म के आचार, तत्त्व और दर्शन की बहुत छाया देखने को मिलती है। वह सूचना देती है कि जैन धर्म की समृद्धि उडीसा मे प्राचीन काल से लेकर मध्ययुग तक अव्याहत गति से चली थी। उडीसा के सास्कृतिक जीवन पर जैन धर्म ने कैसा प्रभाव विस्तृत किया था, उसकी विस्तृत आलोचना अगले प्रकरण मे की जाएगी।

---

१ E P Ind XIII 165 66

वर्तमान आधुनिक युग मे भी उडीसा के धार्मिक जीवन पर जैन धर्म ने जिम प्रभाव को विस्तृत किया है, वह चिन्तन का विपय है। आज भी खण्डगिरि केवल जैनो का ही नही है, हिन्दुओ की भी एक परम पवित्र तीर्थ-भूमि है। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन प्रतिवर्प यहा एक मेला लगता है। हजारो-हजारो यात्री उसमे सम्मिलित होकर केवल साधु अरक्षितदास की स्मृति-पूजा करते हैं, वैसा नही है, जैन तीर्थकरो की प्रतिमाए और उनके शासन देवतादि के लक्ष्य से भी सेवा-पूजा करते आये हैं।

उडीसा की सस्कृति पर जैन धर्म का प्रभाव

•

पूर्व परिच्छेदो मे यह सूचित कर दिया है कि कलिंग मे जैन धर्म प्राचीनकाल से प्रमुख धर्म के रूप मे चलता आ रहा था। इस प्राचीन धर्म का प्रभाव उडीसा के सास्कृतिक जीवन पर नाना प्रकार से देखा जाता है। मध्ययुग मे उडीसा के विविध प्रदेशो मे भजवश का शासन था, यह इतिहास से पता चलता है। ये भज राजा कोई-कोई वैष्णव थे और कोई-कोई शैव थे, किन्तु उन पर जैन सस्कृति का प्रभाव अक्षुण्ण रूप से रहा हुआ था। इसी वश का एक ताम्र-शासनपत्र केन्दुझर जिले के उखुण्डा गाव से मिला था। उसमे भजवश के आदि-पुरुष की उत्पत्ति कोट्याश्रम नामक स्थान मे मयूर अडे से हुई है, इस प्रकार का उल्लेख है। यह कोट्याश्रम जैन हरिवश मे वर्णित 'कोटिशिला' है, सभवत असख्य-करोडो मुनिजनो के निवास करने के कारण उनका नाम कोटिशिला पडा हो। मयूर-अडे को भेदकर (मयूराण्ड भित्वा) वीरभद्र आदि भज के रूप मे उत्पन्न हुए थे, ऐसा उसमे लिखा है। यह मयूर कोई साधारण मयूर नही है, किन्तु जैनो के पुराणादि मे वर्णित श्रुत-देवी का वाहन मयूर है। यदि ऐसा न हो तो साधारण मयूर के अण्डे से मानव का उत्पन्न होना सभव नही होता और वह ग्राह्य भी नही होता। इसलिए सोलहवी शताब्दी मे विद्यमान दनिका राजा के वशीय हरिचन्दन

ने स्वरचित 'सगीत मुक्तावली' मे अपने वश के परिचय-प्रसग मे लिखा है कि अपना वश श्रुति-मयूरिका से उत्पन्न हुआ है। यह श्रुति श्रुतदेवी या सरस्वती होती है। जैन परम्परा मे इसका वाहन मयूर है। भजवश पर जैन धर्म के प्रभाव का यह निदर्शन है।

और भी उक्त उखुण्डा ताम्र शासन (पत्र) मे वीरभद्र के (गणदण्ड) होने का उल्लेख है। यह गणदण्ड जैन शास्त्रो मे प्रयुक्त 'गणधर', गणी, गणेन्द्र आदि शब्दो का एक पर्याय मात्र है।

उत्कल का उत्तरी भाग किसी समय तोपाली नाम से अभिहित होता था। इस तोपाली मे शैलपुर नाम से एक जैन तीर्थस्थान था। भरुकच्छ मे वाणव्यन्तर की यात्रा और अर्वुद पर्वत के प्रभाम तीर्थ की तरह जैनो मे इसने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शैलपुर राजगृह (राजगिरि) का नामान्तर है। विपुला नाम के पर्वत से परिवेष्टित होने के कारण ऐसा नामकरण हुआ है। महावीर के धर्म-प्रचार का प्रधान केन्द्र राजगिरि या शैलपुर के अनुकरण मे उत्तरवर्ती युग मे अन्यत्र भी उसी नाम से जैन केन्द्र स्थापित हुए हैं। तोपाली राज्य मे शैलपुर नाम से एक तीर्थस्थान होने की बात जैन ग्रन्थ मे मिलती है। यहा पर एक ऋषि तालाब था। शरत्काल मे इसी स्थान पर अष्टाह्निक महोत्सव होता था।

इस स्थान का वर्तमान नाम क्या है और वह कहा पर अवस्थित है, इस सम्बन्ध मे इतिहासकारो को खोज करनी चाहिए, किन्तु अब तक वह हुई नही है।

केन्दुझर जिले के आनन्दपुर सब-डिविजन मे पोडासिडि्गडि नाम का एक गाव है। यह आनन्दपुर से आठ मील है। यहा पर प्राय एक वर्ग एक मील परिमित-क्षेत्राकार भूमि वउला पर्वत श्रेणी से आवेष्टित होकर रही है। दूसरा भाग ध्वस्त-प्रकार के अवशेषो से चिह्नित है। यहा पर सौ से अधिक तीर्थंकर यक्ष-यक्षिणी आदि की मूर्तिया इतस्तत बिखरी पडी है। उनमे से कई एक अर्ध-प्रोत्थित, कई एक तिर्यक् रूप मे स्थित, कई एक उत्तानशायी और कई एक अर्धभग्न अवस्था मे हैं। पर्वत पर चढने के लिए

सीढिया हैं। ऊपर जाने पर एक विशाल तीर्थंकर की मूर्ति देखने मे आती है। वह महावीर की है। यह स्थान पहले तोपाली के अन्तर्गत था। इसलिए नि सन्देह इसे तोषाली का शैलपुर कहना युक्तियुक्त है। राजगिरि को भी शैलवलय के बीच मे अवस्थित होने से शैलपुर कहा जाता था। यह स्थान भी उसी प्रकार शैलवलयित है। राजगिरि की चारो दिशाओ मे वेष्टित होने वाले पर्वत का नाम 'विपुला' है। यहा के पर्वत का नाम भी वउला है। यह सादृश्य ध्यान देने योग्य है और राजगिरि के द्वार देश मे स्थित पर्वत बिन्दु की तरह गोलाकार है। यहा पर भी वैसा ही देखा जाता है। इन सब पर विचार करने से उडीसा मे जैन धर्म की प्राचीनता सहजतया प्रमाणित होती है।

ऐतिहासिक तथ्यो के अतिरिक्त साहित्यिक तथ्य भी उत्कल मे जैन धर्म के प्रभाव की घोषणा करते है। यहा तक कि उडीसा क्रीडा के पद्मतोला गीत मे[1] आता है कि कस की पत्नी पद्मावती ने धनिली ओपा किया। कस ने कृष्णा को आदेश दिया कि वे सौ वहगी पद्म-कमल कालिन्दी से लाकर लाये। इसलिए कालिन्दी ह्रद मे प्रवेश कर कृष्ण पद्म-पुष्प तोडने आये, कालीय नाग द्वारा दष्ट होने से उन्होंने उसका मर्दन किया।[2] इसके सिवाय हिन्दुओ के

---

१ कसर घरणी पद्मावती राणी करिछि धनिली ओपा,
शएभार पद्म देपुरे कन्हाई न थिब पाखुडामिशा।

२ कातिक कृष्णा चतुर्दशी का धन्वन्तरि ऋषि के जराव्याधि मे जनता को मुक्त करने के लिए जन्म लेने के उपलक्ष्य मे उपवास किया जाता है जिसमे पद्म पुष्पो से पूजा की जाती है—

३ रसकल्लोलकार दीन कृष्ण ने जैन प्रभावित लोक-साहित्य का अवलम्बन लेकर अपने प्रसिद्ध काव्य में लिखा है— –

कुञ्जविहारी विहरन्ते गोपनगर,
कंस आज्ञा आसि लागिला नन्दकु दव कमल शतभार
कुले नन्द भय न दिशे उपाय वे र पद्म फूल तानि
कर्णे शुणिकर भय परिहरि आग होइन स वनमाली। —
वाली मथुरे के हिन पशे कालिन्दी रे
कृष्ण आनन्द र प्रवेश होइर नटजेने नाट मन्दिरे

विष्णुपुराण, हरिवशपुराण और अन्यान्य विष्णु-लीलात्मक पुराणो मे कृष्ण का अपनी इच्छा मे कालिन्दी ह्रद मे प्रवेश करने का उल्लेख है, किन्तु पूर्व वर्णन मे कम को फूल लाकर देने के लिए कालिन्दी मे प्रवेश करने की वात और कम की स्त्री का नाम पद्मावती यह वात देखी जाती है। इसलिए यह स्पष्ट होता है कि जैन हरिवश का प्रभाव उडीसा के लोक-साहित्य पर यहा तक विद्यमान है। और भी उडीमा की अति प्राचीन पुस्तक 'सारला महाभारत' मे राधाचक्र शब्द का व्यवहार किया गया है।[1] द्रौपदी के स्वयवर मे लक्ष्य-वेध करते समय घूमते हुए चक्र की सन्धि मे राधा लक्ष्य-भेद करने की वात का उल्लेख जैन हरिवश मे है।

सारला महाभारत मे राधाचक्र शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु सस्कृत महाभारत मे राधा शब्द का विलकुल उल्लेख नही है। इमलिए सारलादास ने यह जैन हरिवश से ग्रहण किया है, इसमे कोई सदेह नही।

असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कई एक पूर्वीय लेखको और साहित्यकारो ने उस विपयवस्तु का पद्मपुराण मे मे ग्रहण किया है, ऐसा उल्लेख किया है, किन्तु मूल पद्मपुराण मे वह देखने को नही मिलता है। पूर्व वर्णित कालीय दमन और राधाचक्र के समान वे मव विपय जैन पद्मपुराण से ग्रहण किये गये है, यह वहुत सभव जैसा है।

उडीसा साहित्य पर जैन धर्म का प्रभाव विक्षिप्त रूप मे रहा हुआ है। जगन्नाथदास कृत भागवत मे मूल भागवत का अनुसरण कर जैन तत्त्व दीक्षा का प्रतिपादन किया गया है। भागवत (पचम स्कन्ध, पचम अध्याय) मे ऋषभ देव अपने सौ पुत्रो को जो उपदेश प्रदान कर रहे हैं, वह जैन धर्म के तत्त्वो मे पूर्णतया प्रभावित है।

नीचे उसमे से कतिपय पद्य दिये गये हैं—

---

१ राधानक्र चुलुअनिछि सावताल उच्चे,
लाले उच्चरे घटाए आछिजे सूसचे,
लक्षे वल धनु धरीसे पटारे उठि —सारला महाभारत

ऋषभ की शिक्षा

भागवत (पचम स्कन्ध, पचम अध्याय) चिन्तामणि आचार्य द्वारा सकलित (पृष्ठ २७)

श्री ऋषभ उवाच

यो पुत्रमाने सावधान शुण हे आम्भर वचन ।।
जे प्राणी जे कार्यमान। निरते करे आचरण ।।
मे प्राणी व्यर्थ ए ससारे। पडे नरक महा घोरे ।।
जे ब्रह्म कम मत्वगुण। जपे अनन्त आरधन ।।
निर्वाण माग ए विहित। शुण कहिवा पुत्रे सत्य ।।
स्त्री सगम आदि जेते। जे तम द्वारहि जगते ।।
ए सर्व द्वार परिहर। महन्त जन सेवाधारी ।।
महन्त प्राणी अटे से हि। प्रशान्त साधु जे वोलाइ ।।
जे जन क्रोध विवर्जित। जाहार मुहृद जगत ।।
जे प्राणी मोर पद्म-पादे। मन अर्पइ अप्रमादे ।।
जे जन जायागृह धन। तनय कलेश नाना कर्म ।।
करहि नाना भ्रम होइ। यावत मोते न भजइ ।।
जनित्य देह नित्य करे। से साधु नुहइ ससारे ।।
तावत पराभव पाइ। यावत आत्मान चिह्नइ ।।
यावत नाना कर्म करे। मन वढाइ निरन्तरे ।।
तावत कर्म वश होइ। नानादि शरीर वहइ ।।
अवश्य वासुदेव मुहि। मोरे जाहार प्रीति नाहि ।।
से नोहे देह वन्धुपार। ये जेणु से न चिह्नं ईश्वर ।।
स्वपन प्राये देहेनर। करइ नाना अहकार ।।
निद्रारे येन्हे सुखा भोग। जाग्रते न पाइ ता लाभ ।।
गृह वन्ध रे एककारण । नारी सगते अनुदिन ।।
स्तिरी पुरुष भाव यहि। र्ताहि रे मनकु वान्धई ।।

मोहर गृह मोर धन। वोलि मायारे होइ छन्न ।।
तावत कर्म वन्धमान । नुहइ ताहार खडन ।।

अखिल गुरु मुहि हरि। मोते भजिव देह धरि ।।
निवृत्त चित्त होईनर। भक्ति करिव मो पयर ।।
व्यसन हिंसाकु छाडिव । ता परे मोते आराधिव ।।
मोहर गुण कर्ममान । निरते करिव कीर्तन ।।
एकान्त भाव मोहठारे। भो पुत्र करन्ति जे नरे ।।
इन्द्रिय-गणकु तिवारि । अध्यात्म विद्याकु आचरि ।।
श्राद्ध रे ब्रह्मचर्या करे। प्रशान्त सत्य वचन रे ।।
भवजनमु से तरइ। गृह वन्धन तार नाहि ।।
ताहार कर्म वन्ध मुहि। अक्लेश निश्चय छेदई ।।
आत्मा र श्रेय कर्म ठारे। श्रद्धा न करन्ति पामरे ।।
अल्प-सुख हेतुकरि। अन्यान्य हिंसाकु आचरी ।।
अशेप दु खर कारण। करन्ति होइ मतिभ्रम ।।
दृष्टि ताहार नष्ट होइ। अविद्या सभवे भ्रमइ ।।

चैतन्यदास-विरचित विष्णु गर्भपुराण के छठे अध्याय मे ऋषभ और भरत का चरित्र दिया गया है। यह पुस्तक अलेख धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ है और इसमे इसी धर्म का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। भरत आदि दस पुत्र ऋषभदेव से अलेख धर्म की दीक्षा ग्रहण करते हैं, चैतन्यदास ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। यहा पर यह कहना होगा कि उडीमा के इस अलेख धर्म ने जैसे धर्म की परिणति के रूप में ही उडीसा मे अभिव्यक्ति पायी थी। विष्णु गर्भपुराण के सप्तम अध्याय को देखने पर पता चलता है कि ऋपभ विष्णु गर्भ मे न जाकर वैकुण्ठ मे गये हैं। यहा पर ऋषभ का महत्त्व विशेप मात्रा मे प्रतिपादित किया गया है। भागवत से उद्धृत ऋपभ की उपदेश वाणी मे जिस तरह जैन तत्त्व का प्रभाव प्रस्फुटित हुआ है ठीक वैसा ही विष्णु गर्भपुराण की हितवाणी मे हुआ है।

जैसे—

इन्द्रियमानकु दृढेथिब छन्दि,
दोषी लोककु राजा येह्ने करिथाइ बन्दि।
माय मिथ्या कथामान मुखे न भाषिब,
जाणिथिले न जाणिला प्रायेक होइब।
सत्यभाषा कहि सत्यव्रते थिब नित्ये,
अमार्ग कुपथमान न कल्पिब चित्ते,
गृहे थिले नोहिब अति विषया जञ्जालि,
पुण्य कर्म संपादि अकमगे न चलि।
हानिरे विरस नाहि लाभरे नाहि हरष,
पर-जीवकु मणिथिब आपणा सादृश।
सकल भूतरे होइथिब दया पर,
जन्तु उपरकु न करिब अहंकार।
विष्णु भक्त लोके जेते कथागे प्रवर्ति,
विष्णु रसे निरते थिब माति।
कुसंग परित्यागि सुसंगमान करि,
अन्तक्षणे थिब भकति पसरा आवोरि।
एमत परिजने विष्णु भकति रे पशि,
से लोक अगति दिगदहन वाना दिशि।
जेते लोक सगति रे रसि वसि थिब,
से लोकमानकु पछे चेतना न करिब।

इस तरह से सब निवृत्ति मार्ग की बातें कही गई हैं।

साधनार विधि जे निश्चल ध्यान ततु
चिंआ चइतन जगाई लगाइ मनकु।
मनर संगते नाना चिन्ता थाए जदि
पर्वतकु जेसने वृक्ष थान्ति वेढि।

ऋषम वोइले वावु वस मोर कोले,
अलेख दीक्षा, तुम्भ घेने हो सुमगले।
पिताकु नमस्कार करि दशगोटि भाई,
दीक्षा घेनिवाकु कोले वसिलेक जाइ।
पुत्रमानकु ऋषभ अलेख दीक्षा दे ले
ध्यान भेद मुद्रामान सकल कहिले।

उडीसा मे बउला गाय का उपाख्यान वहुत प्रचलित और लोकप्रिय है। इस उपाख्यान से पता चलता है कि बउला नाम की एक गाय अपने बछडे को छोडकर जगल मे चरने गई थी। वहा पर एक भूखा बाघ उसे देखकर खाने के लिए उद्यत हुआ। बउला गाय ने उससे कहा—"मैंने पुत्र बछडे को जन्म दिया है, मै उसे दूध पिलाकर आती हू, उसके बाद मुझे खा लेना।" बाघ इस बात पर राजी हो गया। उसके बाद वह दूध पिलाने बच्चे के पास गई और दूध पिलाकर पुन बाघ के पास आ गई। बाघ यह देखकर स्तम्भीभूत हो गया। सत्य के इस प्रभाव से हिंस्र बाघ भी अहिंसक बन गया। जैन धर्म का अहिंसा तत्त्व इस उपाख्यान मे बहुत सुन्दर ढग से प्रस्फुटित हुआ है।

वर्तमान उडीसा के लोक-व्यवहार पर उक्त धर्म का प्रभाव कितनी दूर तक पडा है, इसे देखें। इस प्रसग पर आलोचना करने से पूर्व जैन धर्म के कतिपय मूलभूत लक्षणो को खोजना होगा। उन्ही लक्षणो मे से कल्पवृक्ष ने अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था, जिसका कारण है, मानव-सभ्यता के आदि-युग मे खेती आदि कार्य नही थे। लोग कल्पवृक्ष से अपने समस्त आवश्यक अभाव की पूर्ति करते थे। कालक्रम से कल्पवृक्ष का अन्तर्धान होने लगा। लोगो को खाद्य मिलने मे कठिनाई होने लगी, तब आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने खेती, पशु-पालन, व्यवसाय तथा अन्य अनेक प्रकार के शिल्पो का आविष्कार कर लोगो को प्रशिक्षण दिया था।[1] इस

---

१ आदिपुराण, अध्याय ३, पृ० ३०

दृष्टि से कल्पवृक्ष की पूजा जैनो का एक बडा अनुष्ठान है। इसी के अनुकरण-स्वरूप हिन्दुओ ने पौराणिक युग मे कामधेनु की कल्पना की थी और इसी कामधेनु या सुरभी गाय के लिए विश्वामित्र ने वशिष्ठ के आश्रम पर आक्रमण कर अन्त मे राज्य छोडकर तापस जीवन अपनाया था। इसमे सदेह नही है कि जैनो के इस अनुष्ठान ने हिन्दुओ के प्रयाग-स्थित कल्पवृक्ष को प्रेरणा दी थी। केवल इतना ही नही है, कल्पवृक्ष से कूदकर प्राण-त्याग करने की प्रथा जैनो की प्रायोपवेशन अनशन द्वारा प्राण त्याग करने की परम्परा के साथ समान है। प्राचीन हिन्दू-पुराणो मे कल्पवृक्ष की महिमा का बहुत अधिक वर्णन किया गया है।

प्रयाग के कल्पवृक्ष की कहानी से यह बात स्वीकार करनी होगी कि जैन धर्म की विचारधारा ने हिन्दू धर्म पर बहुत अधिक प्रभाव डाला था। कल्पवृक्ष के पास लोग मनौतिया रखकर अपनी कामनाए सफल करते थे। कल्पवृक्ष की कहानी को लेकर हिन्दू पुराण मे विविध आख्यान रहे हुए हैं। हमारे उडीसा मे कल्पवृक्ष का बहुत अधिक महत्त्व है। यहा के लोग वट-वृक्ष की पूजा करते हैं। वट-वृक्ष से निकली हुई जटा को देखकर उसे शिव की जटा कहते हैं। शिवपुराण मे यह भी लिखा है कि ऋषभदेव शिव के अवतार हैं। जैनो के कल्पवृक्ष के प्रभाव से प्रभावित होकर उडीसा के पुरी, भुवनेश्वर आदि मन्दिरो मे कल्पवृक्ष की स्थापना का दूसरा कोई विशेष आध्यात्मिक उद्देश्य नही लगता।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव हिन्दू-पुराणो मे विष्णु और शिव के अवतार रूप मे मान्य हैं। वे अन्तिम समय मुह मे पत्थर रखकर कैलाश पर्वत के शिखर पर रहे थे, और वहा पर वश वन मे दावाग्नि लगने के कारण उसी दावाग्नि से दग्ध हो गये थे। यह घटना फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन घटी थी। इसलिए जैन लोग इसे मानते हैं। कालक्रम से इस निर्वाण दिवस को हिन्दुओ ने भी व्रत विशेष के रूप मे स्वीकार किया है। शिव चतुर्दशी या जागर-चतुर्दशी के रूप में यह भारत-प्रसिद्ध है। ऋषभदेव के शिव के अशीभूत होने का यह एक प्रमाण है। हमारे पालन किये जाने वाले जागर-

व्रत का आधुनिक स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, किन्तु वह एक जैन पर्व है और उसी रूप में पीन-पीन होकर हिन्दू व्यवहार के अन्तर्मुक्त हो गया है।

उड़ीसा जैन धर्म का एक प्रधान केन्द्र है। यहां पर प्रत्येक गांव और शहर में शिवालय स्थापित हैं। इन सभी मन्दिरों में ब्राह्मणेतर जाति के लोग पूजा करते आये हैं। शिव चतुर्दशी उड़ीसा की ग्रामीण जनता का एक प्रमुख पर्व है। सुदूर अतीत से जैन धर्म की इस परम्परा को लोगों ने अपनी संस्कृति में परिणत किया है।

पहले जिस वट वृक्ष की बात कही गई है, उसकी पूजा आजकल भी प्रचलित है। उड़ीसा भाषा में 'विचित्र रामायण' एक ग्रामीण काव्य एवं मनोरंजक पुस्तक है। कवि ने इसमें भी बिना किसी निर्देशन के 'वट प्रार्थना' नाम देकर एक प्रार्थना सीता के मुंह से सुनाई है।[1]

यह प्रार्थना उत्कल कवि का विशुद्ध सर्वस्व होने पर भी इसमें जैन दीक्षा का एक प्राचीन तत्त्व सुनिहित है। उड़ीसा के प्रत्येक शिव मन्दिर में त्रिशूल चिह्न दिया जाता है। त्रिशूल और वृषभ शिव के शाश्वत साथी हैं। जैन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का भी यह चिह्न है। ऋषभ नाम भी वृषभ का पर्यायवाची है। पुरी जगन्नाथ मन्दिर के वेढा (अहाता—चहारदीवारी) में कोइली वैकुण्ठ रहा हुआ है। 'यह कोइलि' शब्द तमिल 'कोएल' शब्द से बना है या 'कैवल्य' शब्द से, यह चिन्तन का विषय है। हिन्दू धर्म में मुक्ति-

---

१ वाछवट धेन धेन मो मिनति वट श्रेष्ठ —
विकन होइण वट मने शिरेकर जोड़ि सीता बोले।
चतुर्दश लोके ख्यात होइ अछ घर उपकारे ए ससारे॥
शाशु-शशुर मो निश्चिन्तरे, सर्वे गुले थान्तु अयोध्या रे।
भरत वीर पुरे राज्य पानु थान्तु शत्रुघ्नकु घेनि सगतरे॥
अयोध्यारे जेते नर-नारी आनन्दरे थान्तु देह धरि।
सबु उपद्रव ताकु न हाउ माग अछिकर जोडिकरि॥
विधवा गनिनामुं नाहिनि, युगे युगे देह रहिथिवि।
पिता मो परम ब्रह्मे भेट पाउ आउ मु तुम्भकुकि मागिवि। —विचित्र रामायण

मोक्ष जिस अर्थ का वाचक है, जैन धर्म का कैवल्य शब्द उसी अर्थ का द्योतक है।[1] निस्सन्देह हमारी उडीसा भाषा मे कैवल्य शब्द जैन धर्म से ही आया है, ऐसा कहा जा सकता है। कारण, प्राचीन हिन्दू-पुराणो म भी कैवल्य शब्द का प्रयोग मोक्ष अर्थ मे नही किया गया है।

तीर्थंकरो का गर्भागमन, जन्म, तपस्या (दीक्षा), ज्ञान-प्राप्ति और मोक्ष-प्राप्ति जिन-जिन तिथियो मे हुई है, उन्ही दिनो मे भगवत इन्द्रादि देववर्ग स्वर्ग मे उत्सव करने आये है। जैन धर्मानुयायी व्यक्ति पृथ्वी पर भी इन तिथियो मे 'चैत्य-यात्रा' करते है। चैत्य-यात्रा कहने से रथ-यात्रा का बोध होता है। चैत्य-मन्दिर मे बनाये हुए रथ पर जिन-प्रतिमा को स्थापित कर नगर मे परिक्रमा करना उत्सव की विधि है। इस यात्रा का अनुष्ठान सुसज्जित हाथी घोडे, नृत्य, गीत और वाद्यो के साथ होता है।

अभिधान राजेन्द्र कोष मे 'अनुयान' शब्द के विवरण मे इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

हमारे उडीसा मे पुरी और भुवनेश्वर मे आषाढ शुक्ला द्वितीया और चैत्र शुक्ला अष्टमी के दिन रथ-यात्रा होती है। ये दोनो तिथिया पुण्य तिथियो के रूप मे स्वीकृत है। रथ-यात्रा तिथि विशेष तथा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। यहा तक कि इसमे वार, नक्षत्र का विचार न कर सभी प्रकार के

---

१ कैवल्य किसे कहते है ?

पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रति प्रसव

कैवल्यस्वरूपप्रतिष्ठा वा चितशक्ति रिति।

चित् स्वरूप पुरुष के भीतर प्रकृति की सारूप्य-निवृत्ति ही कैवल्य है। प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध विहीन होना ही कैवल्य है। पुरुष का स्वरूप-लक्षण यही है। प्रकृति के निकट पुरुष के दिव्य विवेक से उत्पन्न असाधारण औदासीन्य के कारण जडी प्रकृति पुरुषार्थ-शून्य होने पर या प्रकृति के समस्त कारणो की समाप्ति होने पर पुरुष के साथ उसकी जो वियुक्ति होती है, उस वियोग का नाम ही कैवल्य है।

—परमार्थ पयोधि चिकिटिराज राजेन्द्र देव, पृ० २५६

शुभ कार्य किये जाते है। इसलिए इसे कल्याणक दिवस कहा जा सकता है। स्मृति-शास्त्र मे केवल पुष्पनक्षत्रयुक्त द्वितीया तिथि मे राम और भद्रा के साथ जगन्नाथ को रथ मे स्थापित कर यात्रोत्सव करने का विधान है। किन्तु वार, नक्षत्र का विचार न कर शुभ कार्य का अनुष्ठान कही पर भी विहित नही हुआ है। इसी कारण स्मृति-शास्त्र ने इसे कल्याणक के रूप मे ग्रहण नही किया हो, ऐसा लगता है। जो स्मृति-शास्त्र सम्मत न होकर भी देश मे चलता है वह निश्चित ही समाज या लोक-व्यवहार-सम्मत होता है। खोज करने से इस लोक-व्यवहार का मूल हमे जैन पुराणो मे देखने को मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार आषाढ शुक्ला द्वितीया प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का कल्याणक दिवस होता है, अर्थात् इसी तिथि के दिन ऋषभदेव का गर्भागमन हुआ था। प्रत्येक कल्याणक दिनो मे चैत्य-यात्रा या रथ-यात्रा का विधान है। जगन्नाथ ऋषभ के प्रतीक है, ऐसा अनेक लोगो का अनुमान है। इसलिए उसी दिन जगन्नाथ का रथ-यात्रा उत्सव अनुष्ठित हुआ हो, ऐसा अनुमान होता है।

कई एक जैन पुराणो मे ऋषभ का गर्भ दिवस आषाढ शुक्ला चतुर्थी लिखा है। जैन पुराणो की दृष्टि से ऋषभ नौ मास और चार दिन गर्भ मे रहे थे। उनका जन्म चैत्र शुक्ला अष्टमी को हुआ था। वह दिन जन्म कल्याणक दिन है और उसी दिन भुवनेश्वर मे रथयात्रा निकलती है। सस्कृत शास्त्र मे अशोकाष्टमी के दिन रथयात्रा करने का उल्लेख नही है, केवल शोक-रहित होने के उद्देश्य से उस दिन पुनर्वसु नक्षत्र मे पानी के साथ आठ अशोक की कलियो के पान करने का विधान है। इसलिए इसे ऋषभ के जन्म-दिन के रूप मे स्वीकार करने पर जैन-सम्मत रथयात्रा के साथ सगति हो जाती है।[1]

---

१ भुवनेश्वर मे लिंगराज महाप्रभु की अवस्थापित प्रतिमा चन्द्रशेखर से अशोकाष्टमी के दिन एक रथ मे स्थापित कर एक मील दूरवर्ती रामेश्वर मन्दिर में ले जाकर कुछ दिन वहा पर अवस्थापित कर पुन बडे मन्दिर मे उत्सव के साथ लायी जाती है। यह रथ एक चक्र वाला होता है। उसका नाम रुक्मिणी या रुकुणा रथ है।

श्री जगन्नाथ की स्नान-यात्रा के समान जैन प्रतिमाओ का अभिषेक, स्नान या स्नान-यात्रा का अनुष्ठान होता है। छत्र, चवर, तुरही और वाद्यो के साथ आठ कलशो द्वारा जिन प्रतिमाओ का अभिषेक किया जाता है। विशेषत जिन प्रतिमा की आखो को तूलिका द्वारा एक वार और रगने की जो विधि जैन शास्त्रो में देखी जाती है, वह जगन्नाथ आदि मूर्ति-त्रय की स्नान-यात्रा के बाद पीला रग लगाकर नव यौवन आदि का स्मरण करा दिया जाता है। आखो का जो नवीनीकरण है, वह विशेष चिन्तनीय है। जगन्नाथ की गोलाकार आखो के अतिरिक्त और कुछ नही रगा जाता है। जगन्नाथ की मूर्ति चक्षु-प्रधान है। जगन्नाथ शब्द मूलत जैन शब्द है एव यह जिनेश्वर अर्थात् आदिनाथ ऋषभदेव का नामान्तर—दूसरा नाम है, ऐसा अभिधान राजेन्द्र कोष से बोध होता है।[1] जगन्नाथ की रथयात्रा है वह ऋषभदेव के रथोत्सव की परिणति है, इसे हम पहले कह आये हैं। यहा पर उल्लेखनीय यही है कि, यह रथयात्रा श्रीकृष्ण की घोष यात्रा नही है। कारण, घोष मे प्रत्यागमन उत्सव नही होता है।

और भी ऋषभ का कैवल्य होता है कल्पवृक्ष। जगन्नाथ धाम का कल्पवृक्ष ऋषभदेव के कल्पवृक्ष के प्रतीक के समान प्रतीत होता है। कल्पवृक्ष विषयक चर्चा भी हम पहले कर चुके हैं। जगन्नाथ के नील चक्र को ऋषभ के लाछन धर्मचक्र के सकेत रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। ऋषभ की पूजा भारत के जिस क्षेत्र मे होती है, वह चक्र-क्षेत्र के रूप मे जाना जाता है। आबू पर्वत क्षेत्र को इसीलिए चक्र-क्षेत्र कहा जाता है, और इसी तरह केन्दुझर जिले मे आनन्दपुर सब-डिविजन का जहा पहले ऋषभ का पूजा-केन्द्र था, उसे चक्रक्षेत्र कहा जाता है। पुरी को चक्र

इसका मुह जिस तरफ होता है उस तरफ से उसका मुह फिर घुमाया नही जाता। महाप्रभु को पुन लाने के उत्सव दिन में रथ के आरे के निकट को सज्जित कर पीछे की तरफ में लगाकर रथ के पीछे के भाग को सम्मुख कर ठाकुर (लिंगराज) को पुन लाया जाता है।

१ Abhidhan Rajendra, Vol IV, p 1385

क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध किया गया है, उसके पीछे वैष्णव धर्म के प्रभाव का विस्तार चाहे जो कुछ हो, किन्तु वह जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का पूजा-केन्द्र था, इसी कारण वह उसी नाम से विश्रुत हुआ है, यह सबसे अधिक स्वीकार्य है। इन समस्त बातों पर विचार करने पर यह अधिक उपलब्ध होता है कि, जगन्नाथ आनुष्ठानिक रूप में जैन है।[1]

---

१ इस सम्बन्ध में नवभारत, मार्च १९५१ द्रष्टव्य

उडीसा मे जैन कला

Of the early caves along the East coast, the only ones that merit attention here are the two neighbouring and intimately connected groups of the hills of Udaigiri and Khandagiri in Orissa

भुवनेश्वर की दक्षिण-पश्चिम दिशा मे खण्डगिरि और उदयगिरि नाम के दो छोटे-छोटे पहाड हैं। उनकी ऊचाई क्रमश १२३ और ११० फुट है। उदयगिरि के पाद-देश (नीचे की जगह) मे एक वैष्णव मठ है। ये पहाड छोटी-छोटी गुफाओ से परिपूर्ण हैं। उदयगिरि पर ६४, खण्डगिरि पर १९ एव निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड पर तीन गुफाए देखने मे आती हैं। अधिकाश गुफाए जैन सम्राट् खारवेल और उनके पारिवारिक जनो ने बीसवी शताब्दी के लगभग १९०० वर्ष पूर्व बनाई थी। शैव धर्म के केन्द्र-स्थल भुवनेश्वर के इतने निकट जैन धम ने अपना स्थान कैसे बनाया, इस प्रश्न का उठना अस्वाभाविक नही है। ई० पू० की अन्तिम शताब्दियो मे बहुत सम्भव है कि शैव धर्म ने कलिंग मे प्रवेश नहीं किया था। ऐसा लगता है कि जैन धर्म की अभिवृद्धि को रोकने के लिए या विराम देने के लिए ब्राह्मण धर्म के समथको ने बाद में भुवनेश्वर को प्रचार का उपयुक्त स्थान समझकर उसे केन्द्र बनाया था।

खण्डगिरि एव उदयगिरि आदि की गुफाओ का स्थापत्य वस्तुत पूर्व भारत मे एक प्रमुख दर्शनीय वस्तु है । प्रति वर्ष भारत के सैकडो इतिहासविदो और परिव्राजको को यह स्थापत्य आकृष्ट करता है ।

उदयगिरि की गुफाओ मे राणी हसपुर गुफा ही अधिक विशाल है । इसका स्थापत्य भी बहुत सुन्दर है । इसे राणी गुफा भी कहा जाता है । इसकी दोनो श्रेणी मे प्रकोष्ठ (कमरे) सजे हुए है । गुफा का दक्षिण-पूर्व का भाग उन्मुक्त (खुला हुआ) है । नीचे की पक्ति मे आठ और ऊपर की पक्ति मे छह प्रकोष्ठ है । इसकी ऊपरी मजिल मे बना हुआ विशाल बरामदा वस्तुत राणी गुफा की एक प्रमुख विशेषता है । यह बीस फुट लम्बा और नीचे के तल्ले का बरामदा तेतालीस फुट लम्बा है । इसी बरामदे के दोनो अन्तिम भागो पर प्रहरियो की मूर्तिया बहुत स्पष्ट रूप मे खोदी हुई है । नीचे की मजिल मे विद्यमान प्रहरी एक सुसज्जित सैनिक के समान देखे जाते हैं । बरामदे की एक विशेषता यह है कि वहा पर बैठने के लिए अनेक छोटे-छोटे उच्चासन बनाये हुए हैं । पश्चिम भारत की गुफाओ मे इसी प्रकार के आसन देखने को मिलते है । बरामदे के ऊपर की छत को स्थिर रखने के लिए पत्थर के अनेक खम्भे बनाये गये थे । किन्तु दुर्भाग्यवश उनमे से अधिकाश खम्भे भग्न हो गये हैं । सिर्फ राणी गुफा के तीन प्राचीन खम्भे कालचक्र के साथ युद्ध करते हुए अब तक क्षत-विक्षत होकर खडे हुए है ।

प्रकोष्ठ (कमरे) के भीतर प्रवेश करने के लिए निर्दिष्ट द्वार-दरवाजे है । बडे-बडे प्रकोष्ठो के लिए अनेक दरवाजे बनाये गये हैं । इन द्वारो के उपरिभाग पर जैन धर्म के विविध उपाख्यान अकित किये गये है । पत्थरो मे उत्कीर्ण उपाख्यान बहुत प्राजल रूप से वर्णित है, किन्तु उनमे जो सम्बन्ध रहे हैं उन्हे खोजकर प्रत्येक के तथ्य सग्रह करने का कार्य सहज साध्य नही है । मूर्तिया बहुत साधारण ढग से उत्कीर्ण है, इसलिए प्रत्येक के दृश्यो मे एक प्रकार का सामजस्य-सा प्रतीत होता है । किन्तु ऊपर की मजिल मे शिल्पियो ने जिस ढग और जिस रीति से दृश्यो का वर्णन किया है नीचे की मजिल मे उस रीति का अनुसरण नही किया गया है । दोनो तल्लो के चित्र-

कौशल के मध्य मे एक विराट् पार्थक्य-सा रहा हुआ स्पष्ट देखा जाता है। ऊपरी मजिल के दृश्यो मे समानता है। खोदी हुई मूर्तियो मे जो पारस्परिक सम्बन्ध रहा हुआ है, वह बहुत प्रच्छन्न है। मूर्तिया मानो बहुत सजीव और बहुत वास्तविक दृष्टिगोचर होती है।

नीचे की मजिल की मूर्तिया इतनी उन्नत श्रेणी की नही है। उनमे अवास्तविकता और अपरिपक्वता की झलक पूर्णतया परिलक्षित होती है। राणी गुफा के स्थापत्यो के भीतर निश्चितरूपेण वे प्राचीन है। इसके सिवाय किसी स्थान विशेष मे हम उच्चकोटि की वास्तुकला का भी दर्शन होता है। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि नीचे की मजिल की कला ऊपरी मजिल की पूर्ववर्ती है। राणी गुफा के दोनो तल्लो मे विद्यमान कला के भीतर हमे जिस पार्थक्य का दर्शन होता है, वह समय की दूरी को लेकर नही है। ऐसा पता चलता है कि भिन्न-भिन्न शिल्पियो को नियुक्त करने के कारण इस पार्थक्य की सृष्टि हुई है। नीचे की मजिल के लिए जिन शिल्पियो को नियुक्त किया था वे सम्भवत बहुत साधारण कोटि के थे। वस्तुत इस सम्बन्ध मे कही से भी असदिग्ध प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करना सम्भव नही है।

इस सम्बन्ध मे मार्शल साहब ने अपना मत प्रकट किया है कि ठीक मचपुरी गुफा के समान यहा पर भी ऊपरी मजिल का निर्माण पहले हुआ था, किन्तु नीचे की मजिल और ऊपर की मजिल के निर्माण करने मे समय का अन्तर बहुत कम रहा हुआ-सा लगता है। गुफा की कला और स्थापत्य पर मध्य भारतीय एव पश्चिम भारतीय प्रभाव का पडना सभव और स्वाभाविक है। इस प्रभाव के हमे दो प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते है। ऊपरी मजिल मे विद्यमान एक द्वार-रक्षक ग्रीक या यवन वेशभूषा से भूषित है। निकटवर्ती एक सिंह एव उसकी उन्नतशील बनावट मे भी पश्चिम एशिया के कई एक सुलभ चिह्न दृष्टिगोचर होते है। इसके अतिरिक्त नीचे की मजिल मे विद्यमान प्रहरी के आकार की शैली पूर्णतया भारतीय ढग की है। कारण, यहा पर शिल्पी का शिल्प-कौशल अपरिपक्व है, भारतीय

नियमानुमार सीमा मे आवद्ध है।

राणी गुफा पर मथुरा और गान्धार कला का प्रभाव नगण्य है।

उदयगिरि के पाद-देश मे (नीचे) विद्यमान वैष्णव मठ के निकट से जय-विजय गुफा मे जाने के मार्ग मे कई एक छोटी गुफाए दृष्टिगत होती हैं। वाजादार गुफा इनमे से एक है। वाजादार गुफा मे दो छोटे प्रकोष्ठ (कमरे) है। कमरे के सामने वरामदा भी है। छोटी हाथीगुफा और अलकापुरी नाम से दो और गुफाए वहुत पास मे हैं। छोटी हाथीगुफा मे एक प्रकाण्ठ (कमरा) है एव इसके द्वार-स्थान पर दो हाथी के चित्र खोदे हुए है।

राजेन्द्रलाल मित्र एव फर्गुसन ने अलकापुरी का नाम स्वर्गपुरी दिया है। इम गुफा की ऊपरी मजिल मे दो छोटे कमरे एव नीचे की मजिल मे एक वहुत वडा कमरा है। इनकी छतें और वरामदे वहुत सुन्दर ढग से वनाये गये हैं। स्तम्भो के ऊपरी भाग मे पक्ष (सवर्गीय दल) महित सिंह की मूर्ति और नवगुञ्ज की मूर्ति आदि खोदी हुई है।

जय-विजय गुफा के दो प्रकोष्ठ और सामने एक वरामदा है। वरामदे के दाए स्थान मे एक स्त्री-प्रहरी एव वाए भाग मे एक पुरुप-प्रहरी की मूर्ति है। दोनो दरवाजो के ऊपरी भाग मे यक्षो की मूर्तिया खोदी हुई है। दोनो यक्षो के वीच मे पवित्र पीपल वृक्ष की दो पुरुप और दो स्त्रिया पूजा करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। स्त्रिया समस्त पूजा-सामग्री को एक-एक पात्र मे लिये हुए हैं। पुरुपो मे मे एक वद्धाजलि खडा है एव दूसरा पीपल वृक्ष की एक शाखा पर पुष्पमाला अर्पण कर रहा है।

जय-विजय एव मचपुरी के वीच मे एक अर्ध गोलाकार स्थिति मे ठाकुराणी गुफा, पणम गुफा एव पातालपुरी गुफा है। पणस गुफा का राजेन्द्रलाल मित्र ने गोपालपुर नाम दिया है। इसके सामने के वरामदे मे विद्यमान खम्भो के ऊपरी भाग मे पशुओ की मूर्तिया खोदी हुई हैं। पातालपुरी का नाम मित्रजी ने मचपुरी दिया। अर्धवृत्त की अन्तिम-मीमा पर मचपुरी एव स्वर्गपुरी या वैकुण्ठपुरी नाम मे दो गुफाए हैं। इन गुफाओ मे

जो शिलालेख है, उसका ऐतिहासिक मूल्य अपरिमेय है। कारण, चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख से ये सम्बन्धित हैं।

मचपुरी गुफा के सामने एक प्रशस्त लम्बा-चौडा प्रागण है। सम्मुखस्थ वरामदे एव दक्षिण पार्श्वस्थ वरामदे मे दो चित्रित की हुई प्रहरी मूर्तिया है। मुख्य वरामदे की छत के सामने के भाग मे नाना प्रकार की मूर्तिया खोदी हुई हैं। आज वे अस्पष्ट हो गई हैं। कमरे के भीतर प्रवेश करने के लिए पाच निर्दिष्ट दरवाजे हैं, वे दरवाजे एव अगल-वगल के खम्भो पर पशु, वृक्ष, लता एव पुष्प आदि के चित्र वहुत सुन्दर ढग से चित्रित किये गये हैं।

इसमे जो विद्यमान शिलालेख है, उससे पता चलता है कि ये गुफाए ऐर महाराज महामेघवाहन कदम या कुडेप द्वारा बनाई गई थी।[1] वे निश्चित रूप से खारवेल के वशधर थे।

फर्गुसन ने भी इस गुफा का नाम पातालपुरी दिया है। मचपुरी या पातालपुरी के पीछे के भाग मे अवस्थित पर्वत पर स्वर्गपुरी गुफा का निर्माण किया गया है। मित्र एव फर्गुसन के अनुयायी इसे वैकुठपुरी कहते हैं। इसके विशाल प्रकोष्ठ[2] के सामने एक वरामदा है। दक्षिण तरफ मे एक छोटा प्रकोष्ठ भी है। वरामदे के ऊपर की छत अनेक जगहो से भग्न होकर नष्ट हो गई है। इसलिए खम्भे या प्रहरी की मूर्ति आदि जो कुछ भी था, वह सव नष्ट हो गया है। वडे प्रकोष्ठ मे प्रवेश करने के लिए तीन दरवाजे हैं। उसमे विद्यमान शिलालेख से पता चलता है कि वह कलिग के सन्यासी एव अर्हतो के लिए राजा ललाक की पुत्री हाथि साहस की पौत्री ने वनाया था। वह सम्राट् खारवेल की अग्रमहिषी थी।

गणेश गुफा की भीतरी दीवार पर गणेश की प्रतिमा खोदी हुई है। इस गुफा मे दो प्रकोष्ठ और एक वरामदा है। गुफा मे प्रवेश करने के मार्ग के दोनो तरफ दो हाथियो की मूर्तिया बनाई हुई हैं। हाथी कमल का डठल

१ एरस महाराजस कलिगाधिपतिना महामेघवाहनम कदपसिरिनो लेणम्।

२ डेढ फुट लम्बा, साढे छह फुट चौडा एव साढे चार फुट ऊचा।

लिए हुए प्रस्फुटित कमल पर खडे हुए हैं। बरामदे की छत के आधारभूत जो खम्भे थे, उनमे से अनेक भग्न हो गये है। बायी तरफ के खम्भे पर साढे चार फुट ऊची एक प्रहरी की मूर्ति खोदी हुई है। प्रहरी का पाद-शेष वस्त्राच्छादित नही है। प्रहरी दाए हाथ मे एक भाला लिए हुए खडा है। उसके सिर के ऊपर एक वृषभ की मूर्ति है। गुफा के दोनो प्रकोष्ठ (कमरो) को अलग करने के लिए मध्य भाग मे प्राचीर हैं। प्रत्येक प्रकोष्ठ के लिए दो प्रवेशद्वार हैं। दरवाजो मे ऊपरी भाग मे रेली (जगले) है। राणी गुफा मे जिस प्रकार चित्र खोदे हुए है। यहा पर भी इन रेलियो (जगले) पर बहुत सुन्दर दृश्य और चित्र अंकित किये गये है।

पहले दृश्य मे दृष्टिगत होता है एक वृक्ष एव शय्या पर सोया हुआ एक पुरुष, उसके पास एक स्त्री पुरुष के पैरो का मर्दन करती हुई प्रदर्शित की गई है। किन्तु दूसरा दृश्य भिन्न प्रकार का है। उसमे युद्ध का वर्णन किया गया है। अन्तिम दृश्य मे फिर एक पुरुष एक स्त्री के साथ बातचीत करता हुआ देखा जाता है। ये उपाख्यान राणी गुफा के ऊपरी दृश्यो के साथ प्राय समान है।

इससे पता चलता है कि यह किसी अपहृता नारी के उद्धार करने से सम्बन्धित है। सैनिक वैदेशिको के समान लगते हैं। भावदेव सूरी द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ चरित्र मे लिखा है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने किसी राजकन्या का कलिंग के यवन राजा के हाथो से उद्धार किया था। यदि इस गल्प की कुछ ऐतिहासिक सत्यता होती तो निस्सन्देह वह गणेश गुफा के ठोस पत्थर पर साकार रूप लेती। कारण, गणेश गुफा जैनो का कीर्तिमान है, इसलिए उसमे जैन धर्म के किसी भी तीर्थंकर की जीवनी को उपासक-श्रद्धालु व्यक्तियो द्वारा चित्रित करके दिखलाना बहुत स्वाभाविक है।

उदयगिरि के मध्यभाग मे धानवर गुफा, हाथीगुफा, व्याघ्र गुफा और जमेश्वर गुफा है। पहाड के पीछे के हिस्से को काटकर समतल किया गया है। समतल स्थान के केन्द्र-स्थल मे एक छोटा मडप है। यह मडप अनेक समय से छोटे मन्दिर के भग्नावशेष के समान प्रतीत होता है।

घानघर गुफा साढे चौदह फुट लम्बी है, इसलिए इसमे प्रवेश करने के लिए तीन प्रवेशद्वार हैं। बरामदे मे बैठने के लिए व्यवस्था की गई है। बाए भाग मे विद्यमान खम्भे पर सैनिक की मूर्ति खोदी गई है। सैनिक के सिर पर हाथी की एक मूर्ति भी दृष्टिगत होती है।

हाथीगुफा की बनावट बहुत असाधारण है। इसका कोई निर्दिष्ट आकार नही है। सामने का भाग पूर्णतया उन्मुक्त है। ऐसा लगता है पहले हाथीगुफा के चार प्रकोष्ठ एव स्वतन्त्र बरामदा भी था। गुफा का भीतरी स्थान सत्तावन फुट लम्बा एव अट्ठाईस फुट चौडा है। द्वार-देश की उच्चता साढे ग्यारह फुट है। खारवेल का विश्वविख्यात शिलालेख यही पर है। इस शिलालेख मे उनका जीवनचरित्र लिपिबद्ध किया गया है। यह शिलालेख असम्पूर्ण-सा प्रतीत होता है।

हाथीगुफा की पश्चिम दिशा मे आठ गुफाए हैं। ठीक इसकी दूसरी तरफ से सर्प गुफा है। यह गुफा सर्प के फण के आकार जैसी लगती है। सर्प का फण जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ का प्रतीक है। गुफा बहुत छोटी है। इसकी ऊचाई केवल तीन फुट है। इसमे दो शिलालेख हैं। इनको सही-सही पढना सम्भव नही है। कारण, अनेक अक्षर नष्ट हो गये हैं। सर्प गुफा के उत्तर-पश्चिम दिशा मे व्याघ्र गुफा है। इसका अग्रभाग शार्दूल की मुखाकृति के समान लगता है। व्याघ्र गुफा सिर्फ साढे तीन फुट ऊची है। और द्वार देश पर विद्यमान शिलालेख मे पता चलता है कि वह जैन ऋषि सुभूति की गुफा थी।

जमेश्वर गुफा की ऊचाई तीन फुट और आठ इच है। इस गुफा के लिए दो दरवाजे हैं। दरवाजे के ऊपर ब्राह्मी लिपि का शिलालेख है। उससे पता चलता है कि यह महामदरनाकीय और उनकी पत्नी के लिए बनाई गयी थी।

व्याघ्र गुफा की कुछेक दूरी पर एव उदयगिरि की पचास फुट ऊचाई पर जो तीन गुफाए हैं, वे हरिदास गुफा, जगन्नाथ गुफा और रोपेड़ गुफा के नाम से परिचित हैं। हरिदास गुफा का एकमात्र प्रकोष्ठ प्राय बीस फुट

लम्बा है। इसलिए इसके तीन प्रवेशद्वार हैं। इसमे विद्यमान शिलालेख से पता चलता है कि कोठाजय के साधारण कार्य के लिए यह वनाई गई थी। जगन्नाथ गुफा के भीतरी भाग मे जगन्नाथ की मूर्ति उत्कीर्ण की गई है, इसलिए इसका नामकरण उन्ही के नाम के अनुसार हुआ है। इसके विस्तृत प्रकोष्ठ के सामने बरामदा है और तीन दरवाजे है। दरवाजे किसी भी प्रकार के चिह्नो से अलकृत नही है। यह बहुत सरल और आडम्बरशून्य है। इसके निकट मे विद्यमान गुफा को रोषेइ गुफा कहा जाता है। उसका प्रवेश-द्वार सिर्फ एक ही है। खण्डगिरि की गुफाओ का आरम्भ उत्तर दिशा से हुआ है।

उत्तर मे तात्वा गुफा है। गुफा मे एक स्थान पर तात्वा पक्षी का चित्र खोदा हुआ है, इसलिए इसका नाम तात्वा गुफा है। इसका प्रकोष्ठ सोलह फुट चार इच लम्बा है एव पाच फुट नौ इच ऊचा है। प्रवेश करने के लिए तीन दरवाजे है। भीत पर एक शिलालेख लिखा गया है। इसके नीचे के स्थान मे और एक पाच पक्ति का लेख लिखा गया है। तात्वा (१) के छह फुट नीचे जो गुफा है, उसमे भी 'तात्वा' पक्षी का चित्र है, इसलिए इसे भी तात्वा गुफा (२) कहा जाता है। वरामदे के दोनो किनारो पर सैनिक की प्रतिमूर्ति है। प्रकोष्ठ की लम्बाई दस फुट आठ इच है और चौडाई चार फुट चार इच है। प्रवेशद्वार दो हैं। इन दरवाजो के मध्य मे एक शिलालेख है। इससे ज्ञात होता है कि इसमे कुसुम नाम का एक सेवक निवास करता था।

तात्वा गुफा (१) के पूर्व दिशा मे खण्डगिरि गुफा है। खण्डगिरि के पाद देश (नीचे) से ऊपर की ओर जब बढते है तो पहले खण्डगिरि गुफा मे जाना पडता है। गुफा के नीचे की मजिल के प्रकोष्ठ की ऊचाई छह फुट दो इच है और ऊपरी मजिल के प्रकोष्ठ की ऊचाई सिर्फ चार फुट आठ इच है। इसके अतिरिक्त नीचे की मजिल मे एक छोटी भग्न गुफा है। उपरि मजिल के प्रकोष्ठ के निकट मे एक बहुत छोटा कमरा है। इसमे जगन्नाथ प्रभु की मूर्ति उत्कीर्ण है। खण्डगिरि गुफा के दक्षिण मे ध्यानगढ

नाम की एक अन्य गुफा है। इसमे अवस्थित शिलालेख को आज तक नही पढा गया है। वह ई० आठवी या नवी शताब्दी का है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

इसकी दक्षिण दिशा मे नवमुनि गुफा, बारभुजा गुफा, त्रिशूल गुफा है।

नवमुनि गुफा मे दो प्रकोष्ठ हैं। इस गुफा मे ई० दसवी शताब्दी का एक शिलालेख है। इसमे जैन मुनि शुभचन्द्र का नामोल्लेख किया गया है। गुफा के दक्षिण तरफ मे जो कमरा है, उसमे चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तिया उत्कीर्ण हैं। नवमुनि गुफा की सबसे प्रमुख विशेषता यही है।

साधारणतया जैन धर्म मे जिन चौबीस तीर्थंकरो की सूचना मिलती है, नवमुनि गुफा मे उनको आकार प्रदान किया गया है। सबकी ऐतिहासिक स्थिति को प्रमाणित करना सभव जैसा नही है। उनकी जीवनी बहुत समय से काल्पनिक और रहस्यमय है, ऐसा जैन शास्त्रो मे प्रतीत होता है। ये तीर्थंकर अनेक युगो तक जीवित रहकर जैन धर्म के अहिंसा धर्म का प्रचार करते थे। इन चौबीस तीर्थंकरो के जीवन काल को निश्चित करने पर वह भारत के प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युग मे सगथित हो जाएगा। इसलिए कई एक तीर्थंकर परस्पर समसामयिक थे, ऐसा कई एक विद्वानो का विचार हो सकता है।

इन तीर्थंकरो का स्थान जैन धर्म मे सर्वथा पूज्य है। जैन तीर्थस्थलो मे जिन चौबीस तीर्थंकरो की उपस्थापना हुई है उन्हे बराबर सम्मान दिया जाता है। किन्तु मन्दिर मे उनमे से एक को मूल नायक के रूप मे स्वीकार किया जाता है। दूसरे तीर्थंकरो द्वारा परिवेष्टित होकर ये मूल नायक पूजित होते हैं। उक्त मन्दिर के प्रधान देवता वे मूल नायक ही होते हैं। मन्दिर के अधिष्ठित तीर्थंकर को उच्चासन देना जैन धर्म की परम्परागत विधि है। नवमुनि गुफा मे पार्श्वनाथ मूल नायक के रूप मे पूजित हैं।

ये चौबीस तीर्थंकर इसलिए नमस्करणीय हैं कि इन्होने अपने मानसिक विकार एव राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की थी। मुनि-जीवन शान्तिमय जीवन का प्रमुख मार्ग है, इसलिए उन्होने उसे स्वीकार किया था। तीर्थंकर

पद्मासन या कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित होकर शिवकी दक्षिण मूर्ति के समान देखे जाते हैं। यह सादृश्य अर्थहीन नही है। लेकिन इस सादृश्य को केन्द्र बनाकर हम यह कह सकते है कि तीर्थंकरो की योगविधि का अवलम्बन लेकर शिव की मूर्तिया निर्मित हुई हैं।

तीर्थंकरो के भिन्न-भिन्न चिह्न—लाछन है। प्रत्येक के यक्ष और यक्षिणी या शासन देवता एव कैवल्य (बोधि) वृक्ष भी भिन्न भिन्न हैं। कई एक तीर्थंकरो ने अपने वश के प्रतीक को अपने-अपने लक्षण के रूप मे स्वीकृत किया है, ऐसा अनुमान होता है। जैसे अयोध्या का ईक्ष्वाकु वश वृषभ को प्रतीक के रूप मे व्यवहार करता था।

ऋषभनाथ ने इसी इक्ष्वाकु वश मे जन्म ग्रहण किया था, इसलिए उनका चिह्न 'वृषभ' हो गया। इसी प्रकार मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का चिह्न क्रमश कूर्म (कछुवा) और शख हो गया।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के विषय मे इतनी किंवदन्तिया और आख्यायिकाए हैं कि उनसे सत्यासत्य जानने का मार्ग नही है। जैन इतिहास मे ऋषभनाथ-वृषभनाथ को ही जैन धर्म के सस्थापक के रूप मे वर्णित किया गया है। दिगम्बरो के आदिपुराण और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रणीत 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र' मे इसका उल्लेख है। भागवत और अग्नि-पुराण आदि मे ऋषभनाथ को विष्णु का अवतार कहा गया है। किन्तु वास्तविक स्थिति का दर्शन करने के लिए जाए तो पता चलता है कि शिव के साथ ऋषभनाथ की कई एक समानताए हैं। किन्तु ऋषभनाथ जैन धर्म के प्रचारक थे, इस सम्बन्ध मे कोई सशय नही है। फलस्वरूप ऋषभ को शिव और विष्णु की अपेक्षा महान् प्रदर्शित करने के लिए बाद के शिल्पिजनो ने उनका लाछन वृषभ बनाया हो, उनके गोमुख यक्ष की वृषभ की मुखाकृति और चक्रेश्वरी यक्षिणी को वैष्णवी देवी के समान दिखलाने का प्रयत्न किया हो, ऐसा अनुमान होता है। ऋषभनाथ की प्रतिमा के सम्बन्ध मे जैन पुराण या शिल्प-शास्त्रो मे विशेष कोई वर्णन नही है। 'प्रवचन सारोद्धार' से यह पता चलता है कि प्रथम तीर्थंकर का

प्रतीक वृषभ ही था। धर्म-चक्र उनका सर्वश्रेष्ठ प्रतीक था। कैवल्य ज्ञान उन्हे न्यग्रोध या वट वृक्ष के नीचे प्राप्त हुआ था। उनकी मूर्ति के दोनो तरफ क्रमश भरत और बाहुबली नाम के दो व्यक्ति पूजा करनेवाले हैं।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का प्रतीक 'हाथी' है। महायक्ष और अजितबाला नाम के यक्ष और यक्षिणी उनके निकट सदा उपस्थित रहते हैं। सप्तपर्ण वृक्ष के मूल मे उन्हे कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। खड्गासन मुद्रा मे वे ध्यानलीन देखे जाते हैं। सगर चक्रवर्ती उनके चवर चालक हैं। अजेय और विजयी होने के कारण 'अजितनाथ' इस नाम से अभिहित हुए। उनके जन्म-ग्रहण करने मात्र मे ही पिता के शत्रुओ ने पराजय स्वीकार कर ली थी।

तीसरे तीर्थंकर सभवनाथ का चिह्न अश्व है। यक्ष त्रिमुख और यक्षिणी दुरितारि देवी है। शाल वृक्ष के मूल मे सभवनाथ को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। सत्यवीर्य चवर चालक थे।

चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ होते हैं। उनके यक्ष का नाम ईश्वर एव यक्षिणी का नाम काली है। उनका प्रतीक बन्दर है। भारतवर्ष मे अभिनन्दननाथ की मूर्ति क्वचित् ही देखने मे आती है। उन्होने एक हजार श्रमणो के साथ मोक्ष प्राप्त किया था।

पाचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का प्रतीक क्रौंच है। कैवल्य वृक्ष प्रियगु है। यक्ष डम्बरू और यक्षिणी महाकाली है। चवर चालक मित्रवीर्य है।

छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु हैं। उनका प्रतीक रक्तपद्म है। उनका कैवल्य-बोधिवृक्ष छत्रभ (मुचकद) है। कुसुम यक्ष और श्यामा यक्षिणी है। राजायमद्युति उनके चवर धारक हैं।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का प्रतीक स्वस्तिक है। उन्हें हम सर्प से वेष्टित देखते हैं। सापो की सख्या जैन शास्त्रो मे १, ५ या ९ निर्दिष्ट हुई है। शिरीष (सिरस) उनका कैवल्य वृक्ष है। सेवक मातग और सेविका शान्ति है। राजा धर्मवीर्य चवर चालक हैं। उन्होने मोक्ष ५०० साथियो के साथ प्राप्त किया था।

आठवें चन्द्रप्रभु का प्रतीक 'चन्द्र' है। उनका कैवल्य वृक्ष नाग केशर है। उनके पार्श्वचर विजय और भ्रुकुटी या ज्वालामालिनी है। चवर धारक दानवीर्य है।

नवे तीर्थंकर सुविधिनाथ को पुष्पदत भी कहा जाता है। उनके प्रतीक के विषय मे अनेक मतभेद है। कई एक मकर कहते हैं और कई एक कर्कट (केकडा) कहते हैं। उनके यक्ष अजित और यक्षिणी सुतारी है। चवर धारक मघवन राजा है। उनके कैवल्य वृक्ष के विषय मे दो मत हैं। कइयो के मत से नाग और कइयो के मत से मल्ली वृक्ष हैं। उनका निर्वाण सम्मेत शिखर पर हुआ था।

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ भी अन्य तीर्थंकरो की तरह क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुए थे। पिता का नाम दृढरथ और माता का सुनन्दा था। राजा सिमधर चवर चालक है। उन्हे ज्ञान-प्राप्ति विल्व वृक्ष के नीचे हुई थी। यक्ष का नाम ब्रह्मा और यक्षिणी का नाम अशोका है। दिगम्बर दृष्टि से अश्वस्त्र उनका प्रतीक है। किन्तु श्वेताम्वर परम्परा से शीतलनाथ का प्रतीक श्रीवत्स है।

ग्यारहवे तीर्थंकर श्रेयान्सनाथ हैं। उनका लाछन गैंडा है। यक्ष यक्षेत और यक्षिणी मानवी है। त्रिपृष्ठ वासुदेव चवर चालन का कार्य करते है। उनके पिता विष्णु इक्ष्वाकु वश के राजा थे। सिंहपुरी या सारनाथ मे उनका जन्म माता विष्णुद्री के गर्भ से हुआ था।

बारहवे तीर्थंकर वासुपूज्य हैं। भैसा उनका लाछन है। शासन देवता का नाम कुमार और शासन देवी का नाम चण्डा है। पाटलिक कैवल्य वृक्ष है। द्विपृष्ठ वासुदेव चवर चालक होते हैं।

तेरहवे तीर्थंकर विमलनाथ का लाछन 'वराह' है। सम्मुख यक्ष और यक्षिणी हैं—वैरोती। राजा स्वयम्भ वासुदेव चवरधारी है। जम्बू कैवल्य वृक्ष है।

चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ होते हैं। श्वेताम्बर की मान्यता से उनका प्रतीक 'वाज पक्षी' है और दिगम्बर मान्यता से भालू। उनके यक्ष और

यक्षिणी होते हैं पाताल और अनन्तमती। कैवल्य ज्ञान उपलब्धि उन्हे अश्वत्थ वृक्ष के मूल मे हुई थी।[1]

पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ का चिह्न भी भालू स्वीकृत है। वस्तुत उनका प्रतीक होता है—'वज्रदण्ड'। उनके पार्श्वचरो के नाम हैं—किन्नर और कन्दर्पा। मनुष्यो को दु ख और क्लेश मे मुक्त करने के कारण उनका नाम धर्मनाथ हुआ।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का प्रतीक मृग है। उनका यक्ष किंपुरुष और यक्षिणी महामानसी है। राजा पुरुषदत्त चवर चालक है। नन्दिवृक्ष के मूल मे उन्हें बोधि प्राप्त हुई थी, इसलिए कैवल्य वृक्ष नन्दी है।

सतरहवें तीर्थंकर कुथुनाथ का प्रतीक 'छाग (बकरा) है। यक्ष का नाम गन्धर्व और यक्षिणी का नाम बला है। चवर चालक राजा कुनाल है। उनका कैवल्य वृक्ष तिलक है।

अठाहरवे तीर्थंकर अरनाथ का प्रतीक नन्द्यावर्तक नामक स्वस्तिक या मत्स्य है। उनके पार्श्वचर यक्षेन्द्र और धारणा देवी है। उनका कैवल्य वृक्ष आमवृक्ष है।[2] अरनाथ के पिता सुदर्शन चन्द्र वश के राजा थे। माता का नाम जिनसेना था। स्वप्न मे उन्होने रत्नचक्र का दर्शन किया था, इसलिए अरनाथ पहले 'अर' नाम से अभिहित हुए थे।

उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लीनाथ का प्रतीक 'उदक पात्र' (जलपात्र) है। उनका शासन देव कुबेर और शासनदेवी धरणप्रिया है। राजा सूभूम चवर चालक है। कैवल्य वृक्ष अशोक है।

बीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रत का प्रतीक कूर्म (कच्छप) है। उनके पार्श्वचर वरुण एव नरदत्ता है। राजा अजित चवर-चालक है। कैवल्य-वृक्ष चम्पक है। पिता सुमित्र मगध मे हरिवंशीय राजा थे।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ का प्रतीक नील कमल अथवा अशोक वृक्ष है। उनके यक्ष और यक्षिणी भृकुटी एव गन्धारी है। विजय राजा

---

१ अश्वत्थ पादपान्ते, कैवल्यमुदपीपदत्। —उत्तरपुराण, पृ० २५७

२ रेव या शुक्लपक्ष, परान्हे च्यूतवरोरध। —उत्तरपुराण पृ०२१६

चवर चालक है। कैवल्य वृक्ष वकुल है।[1]

वाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रतीक शख है। उनके पार्श्वचर गोमेध और अम्बिका है। चवरधारी राजा अग्रसेन है। महावेणु या वेतस उनका कैवल्य वृक्ष है। पिता समुद्रविजय द्वारका के राजा थे।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ विख्यात तीर्थंकरो मे से एक है। कई एक विद्वान उन्हे जैन धर्म के प्रथम प्रचारक के रूप मे मानते हैं। उनके मत से वे जैन धर्म के प्रतिष्ठाता होते हैं। उनकी जीवनी के सम्बन्ध मे यथेष्ट ऐतिहासिक सत्यता है। सर्प उनका लाछन है। उनके यक्ष को पार्श्व, वामन या धरणेन्द्र और यक्षिणी को पद्मावती कहते हैं। अजित-राजा चवर चालक है। उन्होने कैवल्य ज्ञान देवदारु या धातुकी वृक्ष मूल मे प्राप्त किया था। पार्श्वनाथ का यक्ष भी सर्प के फणो से विभूपित है। गोखुर माप यक्षिणी पद्मावती का वाहन है ऐसा जाना जाता है।

ई० पू० ८१७ मे पार्श्वनाथ ने जन्म ग्रहण किया था और उनका निर्वाण ई० पू० ७१७ मे हुआ था। उनके पिता अश्वसेन वाराणसी के राजा थे। पार्श्वनाथ ने ७० वर्ष की लम्वी अवधि तक ससार को प्रेम और मैत्री के सदेश मे आप्लावित किया था।

खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओ मे इन्ही पार्श्वनाथ को सर्वोच्च आसन प्रदान किया गया है। कारण, इसी जैन स्थली मे पार्श्वनाथ को इष्टदेव या मूलदेवता के रूप मे स्वीकार किया गया था।

जैन धर्म मे चौवीसवे तीर्थंकर महावीर का नाम अप्रतिद्वन्द्वी है। वे जैन प्रचारको मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, इसलिए उनका प्रतीक सिंह है। मातग यक्ष और यक्षिणी सिद्धायिका है। मगध के सम्राट् श्रेणिक उनके चवर चालक है। उनका वोधिवृक्ष शाल वृक्ष है। खडगिरि की गुफाओ मे चौवीस तीर्थंकरो की प्रतिमाए उत्कीर्ण की हुई हैं। चौवीस तीर्थंकरो का यह सक्षिप्त परिचय है।

---

१ निज्दीक्षादिने रम्ये, मूल वकुल भूरुह । —उत्तरपुराण, पृ० ४३७

बारभुजी गुफा मे जिस स्त्री का चित्र खोदा गया है, वह बारह हाथ संयुक्त है। जैन धर्म मे इस प्रकार की मूर्ति का स्थान-निरूपण करना सभव नही है। सामने के बरामदे से अग्रसर होने पर भग्न गुफा देखने मे आती है, उसमे तीर्थकरो की मूर्तिया खोदी हुई हैं। तीर्थकरो के साथ उनके शासन देव और शासन देवियो को भी आकार दिया गया है। ककरमय पत्थरो मे त्रिशूला गुफा बाईस फुट लम्बी, सात फुट चौडी और आठ फुट ऊची है। बरामदे की भीत पर त्रिशूल का चिह्न है। भीतर की तरफ चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तिया बहुत स्पष्ट रूप से उत्कीर्ण हैं। यहा पर पार्श्वनाथ साप के सात फणो के नीचे खडे हुए देखे जाते है। पार्श्वनाथ होते हैं तेईसवें तीर्थंकर। इसलिए वे महावीर के निकट मे ही खडे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु उन्हे अपेक्षाकृत उच्चासन दिया गया है। उनकी मूर्ति तीर्थंकरो के बीच मे है। यहा पर आदिनाथ की तीन प्रतिमाए भी हमे देखने को मिलती हैं। दूसरी-दूसरी गुफाओ की अपेक्षा तीर्थंकर यहा बहुत स्पष्ट और आकर्षण-योग्य हैं।

त्रिशूल गुफा की पश्चिम दिशा मे ललाटेन्दु गुफा है। इसकी उपरि मजिल भग्न हो गई है। नीचे की मजिल के प्रकोष्ठो (कमरो) मे कई एक जैन साधुओ की मूर्तिया हैं। उनमे भी पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयत्न किया है। पार्श्वनाथ वहा के प्रमुख तीर्थंकर हैं।

जैन मन्दिर से उत्तर दिशा मे तात्त्वा (१) और तात्त्वा (२) के निकट अनन्त गुफा है। वहा पर पहाड के पृष्ठ भाग को समतल बनाकर अनन्त गुफा के प्रागण का निर्माण किया गया है। अनन्त गुफा की लम्बाई प्राय चौबीस फुट है। प्रकोष्ठ (कमरे) मे प्रवेश करने के लिए चार दरवाजे हैं। पहले और दूसरे दरवाजे के बीच की दीवार नष्ट हो गई है। भीतरी दीवार पर स्वस्तिक, त्रिशूल आदि जैन धर्म के पवित्र सात चिह्न हैं। ऐसा लगता है, प्रथम स्वस्तिक चिह्न के नीचे के भाग मे पार्श्वनाथ की मूर्ति थी। किन्तु अभी वह प्राय अस्पष्ट हो गई है।

अनन्त गुफा की बाहरी दीवार के ऊपरी भाग मे नाना प्रकार के चित्र उत्कीर्ण हैं। उनमे हम लक्ष्मी के हाथ को शतदल कमल द्वारा सुशोभित

देखते है। दूसरी एक जगह सूर्य को दिखाया गया है। उनका रथ चार घोडो सहित है। चद्र एव नक्षत्र खचित आकाश भी स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है। पशु, पक्षी, मिथुन (स्त्री-पुरुष युगल) आदि चित्रो के ऊपर सर्प फण किये हुए है। स्थान-स्थान पर गन्धर्व-युगल आकाश मार्ग मे विचरण करते हुए दृष्टिगत होते हैं।

उदयगिरि और खडगिरि मे विद्यमान गुफाए एक प्रकार की नही है। उदयगिरि की जैन गुफाए निवास करने योग्य हैं। उनमे जैन श्रमण जीवन का अन्तिम समय साधना करते हुए व्यतीत करते थे। जैन धर्म का यही आदर्श था। लगता है, खारवेल ने भी अपना शेप जीवन इसी प्रकार से यापन किया था। किन्तु खडगिरि की गुफाओ का निर्माण मन्दिर के आकार मे हुआ था। इसलिए उनमे नाना प्रकार के देव, देवियो एव चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तिया खोदी गई हैं। खडगिरि की प्रत्येक गुफा का निर्माण आध्यात्मिक चरम उत्कर्ष को साधने के लिए हुआ था। जैन साधक यहा के पवित्र वायु-मडल मे शास्त्र निर्दिष्ट साधना मे चित्त नियोजित करते थे।

इस प्रकार दोनो पहाडो पर विभिन्न उद्देश्य को लेकर गुफाओ का निर्माण हुआ था। आकार-प्रकार से भी गुफाओ का निर्माण उन्मुक्त गुफाओ की तरह हुआ था, और कई गुफाए दोतल्ले मकानो के समान निर्मित हुई थी। स्थान-स्थान पर सर्प गुफा एव व्याघ्र गुफा की भाति बहुत छोटी गुफाए भी निर्मित हुई थी। अधिकाश गुफाओ की छत समतल है। किन्तु उदयगिरि की हरिदास गुफा, जगन्नाथ और पातालपुरी गुफा एव खडगिरि की तात्वा (१) तथा अनन्त गुफा की ऊपरी छत समतल नही है। ये वक्राकृति या कूबडे की पीठ के समान हैं।

प्रत्येक गुफा मे प्रवेश करने के लिए विभिन्न प्रवेश द्वार थे। ऐसा बोध होता है कि, रात मे प्रकोष्ठ के प्रवेशद्वारो को वास के बनाये हुए कपाटो द्वारा वद किया जाता था। कारण, इस प्रकार के कपाटो को लगाने के लिए द्वारदेश के पत्थरो मे छेद किया गया है। जिन गुफाओ के बरामदे नही हैं, उनके दरवाजो के ऊपर जो ४/६ इच के विशिष्ट छिद्र हैं, उनका क्या

कारण था यह जानना असंभव है। सामने के वरामदों का निर्माण प्रकोष्ठ (कमरों) के आकार की अनुकृति से हुआ है। स्थान-स्थान पर ये वरामदे-रहित हैं, गुफा के अग्रभाग ने सामने की ओर निकलकर नीचे के स्थान को आवृत्त कर लिया है, एवं वरामदे के अभाव की ये पूर्ति करते हैं। वरामदे के प्रान्त-सीमा-स्थान का निर्णय करने के लिए प्रहरी या सैनिकों की मूर्तियां स्थापित की गई हैं। इन सैनिकों की ऊंचाई साधारणतया साढ़े चार फुट है। उनके पैरों का स्थान खुला है एवं भाला उनका प्रधान शस्त्र है। किन्तु राणी हंसपुर के ऊपरी वरामदे में कोई एक देवी को सिंह सहित एवं दूसरे एक देवता को वृक्ष या हाथी सहित प्रदर्शित किया गया है। जय विजय की गुफा में वरामदे में किसी स्त्री के साथ पुरुष की मूर्ति दृष्टिगोचर होती है, और बैठने या सोने की सुविधा के लिए बड़ी-बड़ी गुफाओं में आसन और शैया की अलग व्यवस्था की गई थी। जैन श्रमणों की सभा-समिति या विचार-विमर्षण सभा के लिए गुफाओं के सामने विशाल प्रांगण भी रखा गया था। राणी गुफा, गणेश गुफा, मंचपुरि, यमेश्वर, अनन्त गुफा, वारभुजी गुफा एवं त्रिशूल गुफा के सामने प्रागंण रखा गया है। दर्शकों की दृष्टि सहजतया आकृष्ट हो इसलिए साधारणतया गुफाओं की दीवारों पर चित्र उत्कीर्ण किये गये थे।

गुफाओं की कारीगरी एवं स्थापत्य

उदयगिरि और खंडगिरि गुफाओं की कारीगरी एवं स्थापत्य विशेष उच्च श्रेणी का नहीं है। स्थान-स्थान पर यह कर्कश होने पर भी वलिष्ठ है। स्त्री-पुरुष के विभिन्न विभाव एवं कामावस्था, कष्ट, आकांक्षा, नैराश्य, आनन्द और भक्ति आदि के भावों का प्रकाशन बहुत चातुर्य के साथ सम्पन्न हुआ है। कलिंग के कारीगरों के प्रयत्न एवं अध्यवसाय ने भारतीय कला की उन्नति में विशेष सहयोग किया था। इन गुफाओं में प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का द्वितीय अध्याय आरम्भ हुआ था। सांची, भारहुत एवं वोध गया के समकक्ष पश्चिम भारत में नासिक, भाजा, कोण्डान, कानेरी आदि

स्थानो मे बौद्धो की गुफाए निर्मित हुई थी। इसके अतिरिक्त खडगिरि एव उदयगिरि की गुफाए जैनो के कीर्तिमान हैं।

उदयगिरि एव खडगिरि की गुफाओ मे पशु-पक्षियो के जो चित्र उत्कीर्ण हुए है, उनमे हाथी का चित्र बहुत सुन्दर है एवअश्व, मृग, मर्कट (बन्दर) के चित्र भी बहुत स्पष्ट हैं। पुष्प एव लता आदि का अकन करने मे शिल्पियो ने पारदर्शिता हासिल की है, ऐसा प्रतीत होता है। उद्भिद् जगत का अकन (चित्रण) बहुत सावधानी के साथ किया गया है। राणी गुफा एव गणेश गुफा मे पर्वतो के जो दृश्य है, वैसे उडीसा मे अन्यत्र विरल है। पर्वत के शिखर त्रिकोणाकार मे दृष्टिगोचर होते हैं। अजन्ता मे भी पर्वत का आकार इसी ढग से अकित किया गया है। पारिवारिक एव सामाजिक जीवन की साकारता भी बहुत चमत्कारपूर्ण है। पुरुष वस्त्रो का व्यवहार आधुनिक मल्लो के समान करते थे। उच्च घराने की स्त्रिया मूल्यवान वस्त्र पहनती थी। सम्भ्रान्त परिवार की स्त्रियो और सामन्तो को विविध प्रकार के अलकारो से विभूषित किया गया है। अलकारो की सयोजना करने मे कलिग कारीगर अमरावती के कारीगरो के समकक्ष-से हो गये हैं। आसन, शय्या, प्लेट (तश्तरी), पात्र, चार प्रकार के वाद्य-यत्र, ढाल, तलवार एव विविध प्रकार के यान्त्रिक उपकरण, पुष्प-पखुडी आदि की नक्काशी बहुत सुन्दर ढग से की गई है। समसामायिक धार्मिक जीवन के प्रतिफल भी हमे देखने को मिलते हैं। नाना श्रेणी के पवित्र चित्रो के साथ लक्ष्मी और सूर्य को विशेष अध्यवसाय के साथ चित्रित किया गया है। खडगिरि की जिन गुफाओ मे तीर्थंकरो की मूर्तिया दृष्टिगत होती हैं, उनका वर्णन हम पीछे कर आये हैं। उनकी प्रतिमाए गुफाओ के निर्माणकाल मे निर्मित हुई थी या उत्तरवर्ती काल मे, इस विषय मे कहना सहज नही है। किन्तु जैन मूर्ति कला के जीवन्त दृष्टान्त रूप मे उनकी विद्यमानता अमूल्य है। यदि गुफाओ के निर्माण के साथ-साथ गुफाओ की दीवारो पर उनको आकार दिया गया था तो प्राचीन जैनमूर्ति के रूप मे उनका स्थान समग्र भारत मे प्रथम है। पार्श्वनाथ को यहा पर प्रमुखता देने का क्या कारण है, इस विषय मे सही-सही कुछ

नही कहा जा सकता। निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक विषय है। कारण, दूसरे स्थानो म महावीर को प्रधानता देकर प्रतिष्ठा की गयी है, किन्तु खडगिरि मे पाश्वनाथ को ही महत्त्व दिया गया है। गुफाओ के प्रत्यक स्थान मे उनके लक्षण सप को अधिक माता मे उत्कीण किया गया ह। पाश्वनाथ की प्रधानता स्वीकार करने पर खडगिरि मे होने वाले जैन कीर्तिमानो का प्राचीनत्व भी प्रमाणित होता है। जैन इतिहास के अनुसार पाश्वनाथ का जन्म महावीर के २५० वप पूव हुआ था। किन्तु खडगिरि म पाश्वनाथ के जो कुछ जीवन-प्रसग वर्णित हुए हैं उनम समय की विराट् दूरी एव रहस्य को पृथक् कर हम ई० पू० ७५० के इतिहास या पाश्वनाथ के वैयक्तिक इतिहास को सम्पूर्णतया जानने मे सक्षम नही होते।

खडगिरि और उदयगिरि की जैन गुफाओ का निर्माण कब हुआ था, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ह। हाथीगुफा शिलालेख से पता चलता है कि खारवेल ई० पू० प्रथम शताब्दी के अतिम समय मे कलिग के सम्राट् थे एव उनके और उनके पारिवारिक वर्ग के जैन होने के कारण उन्होने जैनो को सुख, स्वास्थ्य के लिए सौ मे अधिक गुफाओ का निर्माण कराया था। उदयगिरि की स्वगपुरी, मचपुरी, सपगुफा, और यमेश्वर गुफा एव खडगिरि की तात्वा (१), तात्वा (२) और अनन्त गुफा मे जो शिलालेख हैं, वे सब ब्राह्मी अक्षरो मे लिखित हैं। हाथी गुफा शिलालेख मे जिन अक्षरो का व्यवहार किया गया ह, वे सब ब्राह्मी अक्षरो के समान हैं। इसलिए हाथी गुफा शिलालख और उक्त गुफाओ के शिलालेख प्राय समसामयिक हैं, या उनके बीच म समय का व्यवधान बहुत कम ह। खारवेल के पहले वहा पर गुफाओ का निर्माण हुआ था, इसका कोई प्रमाण नही है। इसलिए यही अनुमान किया जा सकता ह कि हाथीगुफा शिलालेख के लिखित होने के साथ-साथ या उसी अनतर मे खारवेल एव उनके कुछ वर्षो बाद उनके वशधरो ने गुफाओ का निर्माण कराया हो। इस दृष्टि से यही युक्तिसगत प्रतीत होता ह कि ई० पू० ५० से ई० १०० के मध्य उदयगिरि एव खडगिरि की अधिकाश गुफाओ का निर्माण हुआ हो।

खडगिरि खारवेल से पूर्व जैन धर्म के तीर्थस्थल के रूप मे स्वीकृत हो गया था। इसलिए लगता है उनके पूर्व कई एक गुफाए निर्मित हो गई हो। तव कम-से-कम यह लगता है कि खडगिरि के जैन मन्दिरो मे से कई एक वहुत प्राचीन, सदृश प्रतीत होने वाली इन गुफाओ को हम खारवेल की पूर्ववर्ती कह सकते है, किन्तु इसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है।

ई० दूसरी शताब्दी मे नागार्जुन नाम के एक बौद्ध भिक्षु ने उडीसा के राजा को वौद्ध धर्म में दीक्षित किया था, इसका प्रमाण उपलब्ध है। सभवत ये राजा जैन थे। उनके पीछे-पीछे ही कलिग मे जैन धर्म के ह्रास का मार्ग सुगम हो गया था एव महायान बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ कलिग मे जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए किसी भी राजा ने प्रयास किया हो, ऐसा प्रतीत नही होता। इसलिए यह ठीक लगता है कि खण्डगिरि एव उदयगिरि की गुफाओ का निर्माण-कार्य ई० द्वितीय शताब्दी के समय समाप्त हो गया हो।

किन्तु उदयगिरि एव खण्डगिरि का परित्याग जैन उपासक नही कर सके थे। वहुत वर्षों के वाद भी वहा की गुफाओ मे जैन साधक निवास करते थे, इसका प्रमाण मिलता है। आठवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक जैनो का दक्षिण भारत मे वहुत प्रभाव था।[1] खण्डगिरि गुफा एव नवमुनि गुफा का शिलालेख इसी समय लिखा गया था। दक्षिण भारत मे वैष्णव धर्म के अभ्युदय के फलस्वरूप जैन धर्म का विलोप अवश्यभावी हो गया था।

उडीसा मे खण्डगिरि ने जैन धर्म के सर्वप्रधान केन्द्र-स्थल के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त की थी एव वह उडीसा के विविध क्षेत्रो मे इस धर्म की परिव्याप्ति के लिए प्रेरणास्वरूप भी वना था। मध्ययुग मे उडीसा के अनेक प्रदेशो मे जैन कला-कौशल का अभिनव प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। यहा पर उन सवकी व्यापक आलोचना सभव नही है, तथापि मध्ययुगीय जैन कला की आलोचना नही करने से इस निवन्ध के सौन्दर्य मे चार चाद नही लग सकते। इसलिए उक्त समय की सैकडो-सैकडो सख्या मे मिलने

१ Prof R G Bhandarkar's Early History of Deccan, p 59 FF 1859

वाली जैन प्रतिमाओ का पर्यवेक्षण कर उनमे से कुछेक की कला का यहा पर परिचय देना आवश्यक है।

भुवनेश्वर म्युजियम मे वालेश्वर जिले के चरम्पा गाम से आनीत तीन मध्ययुगीय जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है, यह चरम्पा गाव चपानगरी का अपभ्रंश हो, और इसी गाव से आनीत मूर्तिया म्युजियम मे सुरक्षित है। इनमें से तीर्थंकर अजितनाथ और शान्तिनाथ की दोनो प्रतिमाए नीले मुगे पत्थर में निर्मित है। मूर्ति-विज्ञान-विशारदो के मत से वे सातवी या आठवी शताब्दी की हैं। तीसरे तीर्थंकर की प्रतिमा का निर्माण भूरे रग के पत्थर मे हुआ है। यह तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की प्रतिमा है। कला की दृष्टि से दोनो मूर्तियो की अपेक्षा यह निकृष्टतर है। मूर्ति-विशेषज्ञो की दृष्टि से यह दसवी शताब्दी की कला है।

मयूरभञ्ज जिले के खिचिं, वारिपदा और वालेश्वर जिले के गुण्डाल एव केन्दुझर जिले के आनन्दपुर क्षेत्र में बहुत सख्या में जैन मूर्तिया है। खिचिं म्युजियम में ऋषभ, पार्श्वनाथ और महावीर की कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्थित (खडी) मूर्तिया सुरक्षित रखी हुई है। इससे पता चलता है कि खिचिं शैवक्षेत्र होने से पहले वहा पर जैन धर्म का प्राधान्य प्रतिष्ठित था। वारिपदा के जगन्नाथ मन्दिर में विभिन्न युग की जैन मूर्तिया देखने को मिलती हैं। मन्दिर के भीतरी दरवाजे मे काले मुगे पत्थर की कायोत्सर्ग मुद्रा-युत ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाए चने सीमेन्ट से चिनी गई हैं। ये सब खिचिं की जैन मूर्तियो के साथ कला-कौशल मे समान मालूम पडती हैं। किन्तु मन्दिर के अहाते में जो एक छोटा मन्दिर है उसमें सुरक्षित मार्बल (सगमरमर) पत्थर में निर्मित पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाए हैं। वह बहुत उत्तरवर्ती युग की कला हैं, इसमें सदेह नही। मयूर-भञ्ज के बडसाहि निकटस्थ कौशाली गाव में पार्श्वनाथ की सुन्दर मूर्ति प्राप्त हुई है। उससे भी अधिक सुन्दर मूर्ति वालेश्वर जिले के गुण्डाल नामक ग्राम में देखने को मिलती है। इस मूर्ति का उद्धार निकटस्थ सोना नदी के गर्भ से किया गया था, लोगो के मुख से ऐसा सुनने में आता है।

मूर्ति पद्मपीठ ऊपर उत्थित कायोत्सर्ग मुद्रा मे और सात फणयुक्त मुद्रा में सर्प द्वारा परिवेष्ठित है। मूर्ति की चारो दिशाओ में आठ ग्रहो की मूर्तिया ध्यान-मुद्रा में अकित की गई हैं। नवमा ग्रह केतु का इसमें दर्शन नही होता, तथापि इसे 'नवग्रहार्चित पार्श्वनाथ' यह सज्ञा दी जा सकती है। मूर्ति की ऊपरी भाग मे गधर्व और विद्याधरो के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। पार्श्वनाथ के दायी तरफ यक्ष धरणेन्द्र एव बायी तरफ यक्षिणी पद्मावती त्रिभग (टाग, गर्दन और कमर जिममें कुछ टेढे रहते हो, ऐसी खडी मुद्रा) मे खडे हुए है। कौशाली के पार्श्वनाथ की अपेक्षा गुण्डाल की यह पार्श्वनाथ मूर्ति कला की दृष्टि से मुन्दरतर है, किन्तु काल-ममय की दृष्टि से यह उत्तरवर्ती है ऐसा कहा जाता है।

मयूरभञ्ज जिले के भीमपुर गाव मे महावीर की जो एक प्रतिमा मिली है, उमका निर्माण काले मूगे पत्थर मे कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बहुत मुन्दर ढग से किया गया है। भगवान महावीर के दोनो तरफ उनके यक्ष और यक्षिणी की मूर्ति त्रिभग स्थिति मे अकित की गई है और उनके ऊपर प्रत्येक तीर्थंकर की मूर्तिया छोटे-छोटे आकार मे उत्कीर्ण हैं। कटक शहर के चौधरी बाजार मे दो जैन मन्दिर हैं। इनमे मे एक मन्दिर उत्कलीय मन्दिर शिल्प के अनुमार निर्मित है और दूसरा एक आधुनिक प्रासाद के रूप मे। दोनो मन्दिर जैन कला-वैभव से सम्पन्न हैं। चौबीस तीर्थंकर एव जैन गणधर और यक्ष-यक्षिणियो की विभिन्न युग की नानाविध मूर्तिया सैकडो-सैकडो की सख्या मे इन दोनो मन्दिरो मे मरक्षित और पूजित हैं। इनमे से अधिकाश मूर्तिया उडीसा से ही प्राप्त हैं। उनमे से ऋषभनाथ, पद्मप्रभु, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियो ने वहा पर बहुत विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। वहा पर आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ और अन्तिम तीर्थंकर महावीर दोनो एक पत्थर मे बहुत सुन्दर ढग से निर्मित हुए देखे जाते हैं। ऋषभ का प्रतीक वृषभ और महावीर का चिह्न सिंह पाद-पीठ के नीचे बहुत जीवन्त रूप मे उत्कीर्ण है। चामरधारी भी अपने कर्तव्य मे व्यापृत हैं। पार्श्वनाथ की जो मूर्ति यहा है उसमे बहुत वैशिष्ट्य देखा जाता

है। सप्त फणो से युक्त सर्प छत्राकार मे उन पर सुशोभित है। तीर्थंकर के पाद-पीठ से लेकर मस्तिष्क तक उनका सपूर्ण शरीर सर्प द्वारा परिवेष्टित है और पाद-पीठ के नीचे दोनो तरफ दो नागिनियो द्वारा वे अर्चित है। तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमा काले मूगे पत्थर मे बहुत श्रम से निर्मित की गयी है। उनके पाद-पीठ के नीचे प्रतीक मृग बहुत सुन्दर ढग से अकित है। मूर्ति का आकार छोटा है, किन्तु कलाकार ने उसके सौन्दय को निखारने मे किसी प्रकार की लापरवाही नही दिखाई है। वह बहुत जीवन्त और तेजस्वी जैसी प्रतीत होती है। तीर्थंकरो के चवर-चालक भी दोनो तरफ हाथी पर खडे होकर चवर-चालन मे व्यस्त है।

तीर्थंकरो का प्रभामडल विविध कारीगरी से युक्त है और मस्तिष्क पर प्रदर्शित छत्र सूक्ष्म कला से सुसज्जित है। तीर्थंकर पद्मप्रभु की मूर्ति पूर्व वर्णित पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ की मूर्ति की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतीत होती है। कारण, वह दोनो मूर्तियो की तरह जैन देव-देवियो द्वारा परिवेष्टित नही है और इसका प्रभामडल तथा छत्र भी विशेष कारीगरी से सम्पन्न नही है। पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के पाद-पीठ के साथ इस मूर्ति के पाद-पीठ की तुलना करने पर यह उन दोनो से प्राचीनतर है, इसमे सन्देह नही। अनुमान करने का भी कोई अवकाश नही है। यदि इस मूर्ति को आठवी शताब्दी की स्वीकृत की जाय तो उक्त दोनो मूर्तियों को दशम शताब्दी की कहा जा सकता है।

ये दोनो मन्दिर छोटी आकृति के विशिष्ट चैत्य (स्मारक—उपासना-स्थल) है। इनके चारो दिशाओ मे तीर्थंकरो की प्रतिमाए सुचारु रूप से अकित की गई है। नगेन्द्रनाथ वसु ने उल्लेख किया है कि ठीक इसी प्रकार का चैत्य मयूरभञ्ज के बडसाहि ग्राम मे था।[1] स्थानीय लोग उसे चन्द्रसेना कहते है। इन्हे देखकर यह स्पष्ट जाना जाता है कि ये उडीसा की शिल्प-कला के निदर्शन (उदाहरण) है। इन चैत्यो के शिखर (चोटी) पर

---

१ Archaelogical Survey of Mayurbhanj N N Vasu, p XC VII

अवस्थित 'आमलक शिला' से पता चलता है कि वे ठीक उडीसा के मन्दिरो की ग्रीवा 'आमलक शिला' और मानवीय कपाल के अनुकरण से निर्मित हैं।

इस मन्दिर मे एक विलक्षण शिला-पत्थर फलक पूजित होता हुआ दृष्टिगत होता है। इस फलक के ऊपरी भाग मे भरत और बाहुबली द्वारा सेवित ऋषभनाथ की पद्मासन मूर्ति है और उसके अतिरिक्त १६० उत्थित (खडी मुद्रा मे) मूर्तिया अकित की गई हैं। सर्वथा ऐसा ही एक फलक मयूर-भञ्ज के झाडेश्वर गाव मे होने का वसु महाशय की पुस्तक से पता चलता है। वसु महाशय ने कहा है कि ये उत्थित मूर्तिया गणधर, पूर्वधर, श्रावक या श्राविकाओ की मूर्तिया है।[1]

कटक के द्वितीय जैन मन्दिर मे कास्य निर्मित तीर्थंकर की मूर्ति की पूजा होती है। उनमे से ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियो ने विशेष स्थान प्राप्त किया है। अधिकाश मूर्तिया मध्ययुगीय हैं, किन्तु कई एक मूर्तियो का निर्माण उनके पाद-पीठ पर लिखित लेख से पता चलता है कि वे सतरहवी और अठारहवी शताब्दी की हैं। इस मन्दिर की एक उल्लेखनीय मूर्ति है एक अदृश्य तीर्थंकर की मूर्ति। यह चैत्याकार युत एक धातु फलक मे बहुत कौशल के साथ अकित की गई है। तीर्थंकर खडे हैं। उन्ही के अश (ढलान—नीचे) मे उसे व्यक्त किया गया है, इसलिए वास्तविक मूर्ति के बदले अदृश्य मूर्ति उसमे अधिक उजागर हुई है।

चौद्वार मे भी अनेक तीर्थंकरो की मूर्तिया मिली हैं। मेरी स्वर्गीय मा मूर्तियो का सग्रह करने मे बहुत आग्रहशील थी। वह जैन तीर्थंकरो की बहुत सुन्दर मूर्तिया सग्रहीत कर हमारे चौद्वार-स्थित कुटीर मे सरक्षित करती थी। बाद मे कुटीर के निकट एक छोटे मन्दिर का निर्माण कर उसमे इन मूर्तियो को प्रतिष्ठित किया गया था। इसके अतिरिक्त मेरी मा ने इस मन्दिर के प्रधान देवता ऋषभदेव को शिव के रूप मे चित्रित किया है। उन्हे जटाजूट युक्त, सर्प फणो से शोभित और व्याघ्र-चर्म पहनाकर शिव की प्रतिमा के

१ Archaeological Survey of Mayurbhanj N N Vasu, p. XLVI

सदृश प्रकट किया था, किन्तु फिर भी उनका जैन सकेत स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होता है। उनके पाद-पीठ के नीचे वृषभ का लक्षण दृष्टिगोचर होता है और चवर चालक भरत और वाहुवली भी दोनो तरफ खडे हैं।

प्राची नदी अववाहिका के तट पर मध्ययुग मे जो सभ्यता विकसित हुई थी, उसमे जैन धर्म अभिव्यक्त हुआ था यह स्पष्टतया समझ मे आता है। जैन तीर्थंकर, यक्ष और यक्षिणियो की सुन्दर कला से सुसज्जित प्रतिमाए प्राची की तराई के अनेक स्थानो मे दृष्टिगोचर होती हैं। अतसपुर गाव के स्वप्नेश्वर शिव मन्दिर मे ऋषभनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा रखी हुई है। प्रतिमा छोटे-छोटे तीर्थंकरो की मूर्तियो द्वारा परिशोभित है। तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा मे नग्न खडे हैं। उनके दोनो कान कुण्डल से सुशोभित है और मस्तिष्क विविध रत्नो से विभूषित मुकुट से। सर्वोपरि अकित किया गया है छत्र और छत्र के ऊपर उनके कैवल्य वृक्ष की शाखा। पाद-पीठ के नीचे वृषभ का चिह्न है और वृषभ के दोनो तरफ एक-एक उपासिका और सिंह चिह्नित है। सिंह की आकृति के कारण उसे सिंहासन कहा जा सकता है।

अतसपुर मे एक और तीर्थंकर की मूर्ति भी देखने मे आती है। दुख की वात यह है कि उसका मूल अश भग्न हो गया है, इसलिए मूर्ति का लाछन दृष्टिगत नही होता है। मूर्ति का प्रभामण्डल पूर्वोक्त ऋषभ की मूर्ति के समान विविध कारीगरी से शोभित है और ऋषभ मूर्ति की तरह शोभित है। यह मूर्ति ऋषभ मूर्ति की तरह मुकुट सुशोभित न होने पर भी मस्तिष्क के ऊपर त्रिभुजाकार छत्र परिदृष्ट होता है। कला की दृष्टि से दोना मूर्तिया समकालीन हैं। बहुत सभव है, पहले एक ही स्थान मे रखकर इन दोनो मूर्तियो की पूजा होती थी।

आदिनाथ ऋषभ और अन्तिम तीर्थंकर महावीर की एकत्र पूजा करने की विधि मध्ययुग मे प्रचलित थी। कटक-स्थित जैन मन्दिर मे दोनो तीर्थंकरो की प्रतिमाओ को एक फलक पर अकित कर पूजा करने की वात पहले कही गई है। ऐसा ही एक फलक उडीसा से विलायत मे ले जाकर वहा

के विक्टोरिया एल्बर्ट म्युजियम मे रखा गया है। इस दृष्टि से अतसपुर की भग्न तीर्थंकर की मूर्ति महावीर की है इसमे सदेह नही है।[1] जैन कला क्षेत्र मे यक्ष और यक्षिणियो का स्थान बहुत विशिष्ट रहा है, इसकी सूचना पहले दी गई है। खण्डगिरि की नवमुनि गुफा और वारभुजी गुफा मे तीर्थंकरो के साथ यक्ष और विशेषकर यक्षिणियो के चित्र स्थापित किये गये हैं। सभवत जैन लोग उन्हे शासन देवता और जैन धर्म के सरक्षक के रूप मे सम्मान प्रदान करते हो। जैन शास्त्र प्रतिष्ठा कल्प मे लिखा है कि शासन देवता जैन धर्म की रक्षा तथा अभिवृद्धि के कार्य मे सदा सचेष्ट रहते हैं।[2]

प्राची अववाहिका के लताहरण ग्राम मे एक फलक पर यक्ष और यक्षिणी युगल की मूर्ति अकित है। फलक नीले मूगे पत्थर का है। यह युगल मूर्ति अर्ध-प्रोत्थित होकर पद्म-पीठ पर बैठी हुई है और दोनो दाए हाथो मे चवर धारण किए हुए हैं। दोनो की वेशभूषा प्राय एक प्रकार की है, जैसे—कानो मे कुण्डल, गले मे मुक्ताहार, कन्धे पर जनेऊ, भुजाओ मे भुजबन्ध हैं। यहा तक कि दोनो का परिच्छद (पहनने के वस्त्र) भी एक समान हैं। किन्तु शिरोभूषण मे पार्थक्य है। यक्ष प्रतिमा के मस्तिष्क पर पिरामिड-आकृति का रत्न-मुकुट है और यक्षिणी के मस्तिष्क पर सुसज्जित कवरी (बालो का जूडा) शोभित हो रही है। दोनो आम्रवृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न अवस्था मे बैठे हुए हैं। उनकी अर्ध-निमीलित आखो की दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। ध्यानमग्न होने पर भी दोनो के होठो पर प्रशान्त हास्य रेखा प्रस्फुटित हो रही है। दोनो के बीच मे वृक्ष देवता झूले पर झूल रहे हैं। सबसे ऊपर तीर्थंकर की मूर्ति अकित है। दो चवर-चालक उक्त तीर्थंकर की सेवा मे सलग्न हैं। यक्ष-युगल के पाद-पीठ के नीचे

---

१. R P Chandra's Mediaeval Indian Sculpture in the British Museum, Plate XXII

२ ययाति शासन जैन सद्य प्रत्यूहनाशिनी साभितीत समृद्धाम भूयात् शासन-देवता
—प्रतिष्ठा कल्प, पृ० ३०

सात छोटी-छोटी मूर्तिया बहुत श्रम से अकित की गई हैं। ये यक्ष और यक्षिणी होते हैं—गोमेध और अम्बिका। डॉ० नवीनकुमार साहू उन्हे कुष्माण्ड और कुष्माण्डी कहते हैं। इसी प्रकार की एक और यक्ष युगल की मूर्ति उडीसा से ले जाकर लन्दन के विक्टोरिया एल्बर्ट म्युजियम मे रखी गई है। उनके नीचे गुप्तोत्तर युग के अक्षरो में लिखा हुआ है—अनन्तवीर्य। इसलिए वह यक्ष अनन्तवीर्य और उनकी यक्षी की प्रतिमा है।

वर्तमान उडीसा मे विद्यमान तीन जैन मदिरो के सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक है। ये मन्दिर बहुत आधुनिक हैं। खण्डगिरि के शिखर पर जो एक मन्दिर है, वह अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम समय मे बनाया गया था। जिस शैली से इस मन्दिर का निर्माण हुआ है, उसे उडीसा के शिल्प-शास्त्र मे 'भद्रशैली' कहा जाता है। इस मन्दिर के निर्माणकर्ता हैं[1]—कटक-निवासी दिगम्बर अनुयायी मजु चौधरी और उनके पुत्र श्री भवानीबाबू। राजेन्द्रलाल मित्र के समय इस मन्दिर मे काष्ठासन पर स्थित महावीर की काले मूगे पत्थर की मूर्ति की पूजा होती थी। किन्तु जिस समय यह लिखा गया, उस समय पाच जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया पूजित होती थी।[2] किन्तु वर्तमान उक्त मन्दिर के प्रधान देवता होते हैं ऋषभदेव और सफेद सगमरमर प्रस्तर मे निर्मित उनकी योगासन मूर्ति मन्दिर के भूगृह के मध्यस्थल मे प्रतिष्ठित की गई है। मन्दिर के दाए तरफ तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक विराट् काले सगमरमर की मूर्ति कुछ ही वर्षों पूर्व स्थापित की गई है। मन्दिर के बाए तरफ के एक कोने मे जो छोटा मन्दिर है, उसमे अवस्थित की गई मूर्ति को लोग कलिग जिन कहते हैं।

कटक के चौधरी बाजार मे जो जैन मन्दिर है, वह 'नागरशैली' का है। विमान (रथ) से सटाकर जिस जगमोहन[3] (छोटे मन्दिर) का निर्माण किया है उसकी शैली 'भद्र' है। मन्दिर बहुत कारीगरी से खचित और

---

१ Antiquities of Orissa, R L Mitra, p 35

२ Bengal District Gazetteer—Puri, p 264,

३ किसी बडे मन्दिर के प्रवेशद्वार-स्थित छोटे मन्दिर को जगमोहन कहते हैं।

बहुत सूक्ष्मकला से विभूषित है। उडीसा की आधुनिक कला का यह एक विशिष्ट निदर्शन है। इस मन्दिर का निर्माण कटक के पोरवाल-परिवार ने किया है। आज तक यही परिवार इसकी देख-रेख करता है।

मन्दिर के भीतर मूगे प्रस्तर मे निर्मित असख्य जैन मूर्तिया रखी हुई हैं। किन्तु मुख्य प्रतिमा ऋषभदेव की है।

अन्त मे मेरी माता द्वारा निर्माण किये गए चौद्वारस्थ जैन मन्दिर का उल्लेख यहा पर करता हू।

मन्दिर बहुत आधुनिक और बहुत छोटा है। इसके स्थान (ढग) का निर्णय करना सभव नही है। कारण, यह 'रेखा' और 'भद्र' दोनो शैलियो का सम्मिश्रण है। इस मन्दिर के उपास्य देवता के सम्बन्ध मे पहले कहा गया है। वे होते है—ऋषभदेव। दिगम्बर ऋषभनाथ को मेरी मा ने सिर पर साप का फण लगाकर उसे शिवरूप मे चित्रित किया है। जैन आदिनाथ-ऋषभदेव होते है आज हिन्दुओ के 'नीलकण्ठ'।

चौवीस तीर्थंकरो का विशद वर्णन

१ तीर्थंकर—ऋषभनाथ या आदिनाथ, जन्मस्थान—विनीता—अयोध्या नगरी, पिता—नाभि राजा, माता—मरुदेवी, विमान—सर्वार्थसिद्ध, वर्ण—पीत-सोने जैसा, कैवल्यवृक्ष—वट या न्यग्रोध, लाञ्छन—वृष या धर्मचक्र, यक्ष—गोमुख, यक्षिणी—चक्रेश्वरी अप्रतिचक्रा, चवर धारक—भरत एव वाहुवली।

२ तीर्थंकर—अजितनाथ, जन्मस्थान—अयोध्या, पिता—जितशत्रु, माता—विजया, विमान—विजय, वर्ण—पीत, कैवल्यवृक्ष—शाल, चिह्न—गज, यक्ष—महायक्ष, यक्षिणी—अजितवाला (श्वे०), रोहिणी (दि०), चवर धारक—सगर चक्रवर्ती।

३ तीर्थंकर—सभवनाथ, जन्मस्थान—श्रीवस्ती, पिता—जिनारि, माता—सेना, विमान—उपरिम ग्रैवेयक, वर्ण—पीत, कैवल्यवृक्ष—प्रयाल, चिह्न—सूर्य या अश्व, यक्ष—त्रिमुख, यक्षिणी—दुरितारि (श्वे०), प्रज्ञप्ति (दि०), चवर धारक—सत्यवीय।

४ तीर्थंकर—अभिनन्दननाथ, जन्मस्थान—अयोध्या, पिता—सवर राज, माता—सिद्धार्था, विमान—जयन्त, वर्ण—पीत, कैवल्यवृक्ष—प्रियगु, चिह्न—कपि, यक्ष—नायक (श्वे०), यक्षेश्वर (दिग०), यक्षिणी—कालिका (श्वे०), वज्रशृखला (दिग०)।

५ तीर्थंकर—सुमतिनाथ, जन्मस्थान—अयोध्या, पिता—मेघराज, माता—मगला, विमान—जयन्त, वर्ण—पीत, कैवल्यवृक्ष—शाल, चिह्न—क्रौंच पक्षी, यक्ष—तुम्बुरु, यक्षिणी—महाकाली (श्वे०), पुरुषदत्ता (दि०), चवर धारक—मित्रवीर्य।

६. तीर्थंकर—पद्मप्रभु, जन्मस्थान—कौशाम्बी, पिता—श्रीधर, माता—सुसीमा, विमान—उपरिम ग्रैवेयक, वर्ण—लाल, कैवल्यवृक्ष—छत्राभ, लाछन—रक्तकमल, यक्ष—कुसुम, यक्षिणी—अच्युता (श्वे०), श्यामा (श्वे०), मनोवेगा (दि०), चवर धारक—यमद्युति।

७. तीर्थंकर—सुपार्श्वनाथ, जन्मस्थान—वाराणसी, पिता—प्रतिष्ठाराज, माता—पृथ्वी, विमान—मध्यम ग्रैवेयक, वर्ण—काचन, कैवल्यवृक्ष—शिरीष, लाछन—स्वस्तिक और सर्प, यक्ष—मातग (श्वे०), वरनन्दी (दि०), यक्षिणी—शान्ता (श्वे०), काली (दि०), चवर धारक—धर्मवीर्य।

८ तीर्थंकर—चन्द्रप्रभु, जन्मस्थान—चन्द्रपुरी, पिता—महासेन, माता—लक्ष्मी, विमान—विजय, वर्ण—गौर, कैवल्यवृक्ष—नागकेसर, लक्षण—चन्द्र, यक्ष—विजय (श्वे०), श्याम (दि०), यक्षिणी—भृकुटी (श्वे०), ज्वालमालिनी (दि०), चवर धारक—धनवीर्य।

९. तीर्थंकर—सुविधिनाथ या पुष्पदन्त, जन्मस्थान—काकन्दीनगर, या किष्किन्धानगर, पिता—सुग्रीवराज, माता—रामा, विमान—अनन्त देवलोक, वर्ण—गौर, कैवल्यवृक्ष—मल्ली या शाल, लक्षण—मकर (श्वे०), केकडा (दि०), यक्ष—अजित, यक्षिणी—सुतारका (श्वे०), महाकाली (दि०), चवर धारक—माघवट राज।

१० तीर्थंकर—शीतलनाथ, जन्मस्थान—भद्रिकपुर, भद्दिलपुर या भद्रपुर, पिता—दृढरथ, माता—नन्दा, विमान—अच्युत देवलोक, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—विल्व या प्रियगु, लक्षण—अश्वत्थ, श्रीवत्स, पिप्पल, यक्ष—ब्रह्मा, यक्षिणी—अशोका (श्वे०), मानवी (दि०), चवर धारक—सिमधराज।

११ तीर्थंकर—श्रेयान्सनाथ, जन्मस्थान—सिंहपुरी, पिता—विष्णुराज, माता—विष्णा, विमान—अच्युत देवलोक, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—तुम्बर या तण्डूका, लक्षण—खड्ग, यक्ष—यक्षेत (श्वे०), ईश्वर (दिग०), यक्षिणी—श्रीवत्सादेवी (श्वे०), मानवी (श्वे०), गौरी (दि०), चवर धारक—त्रिपृष्ठराज।

१२ तीर्थंकर—वासुपूज्य, जन्मस्थान—चम्पापुरी, पिता—वसुपूज्य, माता—जया, विमान—प्रणत देवलोक, वर्ण—लाल, कैवल्यवृक्ष—पाटलिक या कदम्ब, लक्षण—महिष, यक्ष—कुमार, यक्षिणी—प्रचण्डा, चण्डा (श्वे०), गान्धारी (दि०), चवर धारक— द्विपृष्ठ वासुदेव।

१३ तीर्थंकर—विमलनाथ, जन्मस्थान—काम्पिल्यपुर, पिता—कृतवर्मा, माता—श्यामा, विमान—सहस्रार देवलोक, वर्ण—काचन, कैवल्यवृक्ष—जम्बू, लक्षण—वराह, यक्ष—सम्मुख (श्वे०), श्वेतम् (दि०), यक्षिणी—विजया, विदिता (श्वे०), वैरोती (दि०), चवर धारक—स्वयभू वासुदेव।

१४ तीर्थंकर—अनन्तनाथ या अनन्तजित, जन्मस्थान—अयोध्या, पिता—सिंहसेन, माता—सुयशा, विमान—प्रणत देवलोक, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—अशोक या अश्वत्थ, लक्षण—श्येन (श्वे०), भल्लूक (दि०), यक्ष—पाताल, यक्षिणी—अकुशा (श्वे०), अनतमती (दि०), चवर धारक—पुरुषोत्तम वासुदेव।

१५ तीर्थंकर—धमनाथ, जन्मस्थान—रत्नपुरी, पिता—भानुराज, माता—सुव्रता, विमान—विजय, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—दधिपर्ण या सप्तच्छद, लक्षण—वज्रदण्ड, यक्ष—किन्नर, यक्षिणी—पन्नगादेवी (श्वे०), कन्दर्पा (श्वे०), मानसी (दि०), चवर धारक—पुण्डरीक वासुदेव।

१६ तीर्थंकर—शान्तिनाथ, जन्मस्थान—हस्तिनापुर, पिता—विश्वसेन, माता—अचिरा, विमान—सर्वार्थसिद्ध, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—नन्दी, लक्षण—मृग, यक्ष—गरुड (श्वे०), किंपुरुष (दि०), यक्षिणी—निर्वाणी (श्वे०), महामानसी (दि०), चवर धारक—पुरुषदत्तराज।

१७ तीर्थंकर—कुन्थुनाथ, जन्मस्थान—गजपुर, पिता—सुरराज, माता—श्रीराणी, विमान—सर्वार्थसिद्ध, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—तिलकतरु या भिल्लक, लक्षण—अज, यक्ष—गधर्व, यक्षी—अच्युता, वाला (श्वे०), विजया (दि०), चवर धारक—कुनाल।

१८ तीर्थंकर—अरनाथ, जन्मस्थान—गजपुर (हस्तिनापुर), पिता—सुदर्शन, माता—देवी, विमान—सर्वार्थसिद्ध, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—आम्र, लक्षण—नन्द्यावर्त (श्वे०), मीन (दि०), यक्ष—यक्षेत (श्वे०), खेन्द्र (दि०), यक्षिणी—धरणीदेवी (श्वे०), अजिता, तारा (दि०), चवर धारक—गोविन्दराज।

१९ तीर्थंकर—मल्लिनाथ, जन्मस्थान—मिथिला या मथुरा, पिता—कुम्भराज, माता—प्रभावती, विमान—जयन्त देवलोक, वर्ण—नील, कैवल्यवृक्ष—अशोक, लक्षण—कलश, यक्ष—कुवेर, यक्षी—वैराती (श्वे०), धारणप्रिया (श्वे०), अपराजिता (दि०), चवर धारक—सुलम्वराज।

२० तीर्थंकर—मुनिसुव्रत, जन्मस्थान—राजगृह, पिता—सुमितराज, माता—पद्मावती, विमान—अपराजित देवलोक, वर्ण—कृष्ण, कैवल्यवृक्ष—चम्पक, लक्षण—कूर्म, यक्ष—वरुण, यक्षी—नरदत्ता (श्वे०), वाहु-रूपिणी (दि०), चवर धारक—अजित।

२१ तीर्थंकर—नमिनाथ, जन्मस्थान—मिथिला या मथुरा, पिता—विजयराज, माता—विप्रराणी, विमान—प्रणत देवलोक, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—वकुल, लक्षण—नीलोत्पल (श्वे०), अशोकवृक्ष (दि०), यक्ष—भृकुटि (श्वे०), नन्दगा (दि०), यक्षी—गान्धारी (श्वे०), चामुण्डा (दि०), चवर धारक—विजयराज।

२२ तीर्थंकर—नेमिनाथ, जन्मस्थान—सौरपुर या द्वारका, पिता—समुद्रविजय, माता—शिवादेवी, विमान—अपराजित, वर्ण—कृष्ण, कैवल्यवृक्ष—महावेणु या वेतस, लाछन—शख, यक्ष—गोमेध (श्वे०), मर्वाह्ण (दि०), पुष्पयान (दि०), यक्षिणी—उमा, अम्बिका

(श्वे०), कुष्माण्डिनी (दि०), चवर धारक—उग्रसेन।

२३ तीर्थंकर—पार्श्वनाथ, जन्मस्थान—वाराणसी, पिता—अश्वसेनराज, माता—वामादेवी, विमान—प्रणत देवलोक, वर्ण—नील, कैवल्यवृक्ष—देवदारु या धातकी, लाछन—सर्प, यक्ष—पार्श्व (श्वे०), धरणेन्द्र (दि०), यक्षिणी—पद्मावती, चवर धारक—अजितराज।

२४ तीर्थंकर—महावीर या वर्धमान, जन्मस्थान—कुण्डग्राम या चित्रकूट, पिता—सिद्धार्थ, श्रेयमान या यशस्विन्, माता—त्रिशला, विदेहदिन्ना, प्रियकारिणि, विमान—प्रणत देवलोक, वर्ण—कचन, कैवल्यवृक्ष—शाल, लाछन—सिंह, यक्ष—मातग, यक्षी—सिद्धायिका, चवर धारक—श्रेणिक या बिम्बसार।

चौबीस यक्ष या शासन देवताओ का विशद वर्णन

•

जैन धर्म के उत्थान के बहुत पहले से भारतीय लोक-विश्वास और साहित्यिक परम्परा मे यक्षो का अस्तित्व एक पारिवारिक रूप मे था। जैन परम्परा के अनुसार इन्द्र चौबीस तीर्थंकरो की सेवार्थ चौबीस यक्षो को शासन देवता के रूप मे नियुक्त करते हैं। यक्ष-मूर्ति प्रत्येक तीर्थंकर के दाए भाग मे स्थापित होती है।

१ यक्ष (शासन देवता)—गोमुख, श्वेताम्बर सकेत—वरदामुद्रा, जपमाला और कुठार, दिगम्बर सकेत—मस्तक पर धर्म का प्रतिबिम्ब, वाहन—वृक्ष (श्वे०), गज (दि०), तीर्थंकर—ऋषभनाथ या आदिनाथ।

२ यक्ष (शासन देवता)—महायक्ष, श्वेताम्बर सकेत—चतुर्मुख और अष्टबाहु, वरदा, गदा, जपमाला, पाश, नीबू, अभय, अकुश, शक्ति। दिगम्बर सकेत—चतुर्मुख और अष्टबाहु, धातु की छोटी थाली, त्रिशूल। वाहन—पद्म, अकुश, खड्ग, यष्टि, कुठार, वरदामुद्रा, गज। तीर्थंकर—अजितनाथ।

३ यक्ष (शासन देवता)—त्रिमुख, श्वेताम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्बाहु, नकुल, गदा, अभयमुद्रा, नीबू, पुष्पहार और जपमाला। दिगम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्बाहु, धातु की छोटी थाली, तलवार, अकुश, यष्टि,

त्रिशूल और छोटी कटार। वाहन—मयूर, तीर्थंकर—सभवनाथ।

४ यक्ष (शासन देवता)—यक्षेश्वर (दि०), नायक (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—नीबू, जपमाला, नकुल और अकुश, दिगम्बर सकेत—धनुष, ढाल और तलवार, वाहन—गज, तीर्थंकर—अभिनन्दननाथ।

५ यक्ष (शासन देवता)—तुम्बुरु, श्वेताम्बर सकेत—वरदा, भाला, गदा और पाश, दिगम्बर सकेत—दो सर्प, फल और वरदामुद्रा, वाहन—गरुड, तीर्थंकर—सुमतिनाथ।

६ यक्ष (शासन देवता)—कुसुम (श्वे०), पुष्पयक्ष (दि०), श्वेताम्बर सकेत - चतुर्बाहु, फल, अभयमुद्रा, जपमाला और नकुल, दिगम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वरदामुद्रा, ढाल, अभयमुद्रा, भाला, वाहन—कृष्णमार, तीर्थंकर—पद्मप्रभु।

७ यक्ष (शासन देवता)—मातग (श्वे०) या वरनन्दी, श्वेताम्बर सकेत—विल्वफल, पाश, नेवला और अकुश, दिगम्बर सकेत—यष्टि, भाला, स्वस्तिक और वैजयन्ती, वाहन—गज (श्वे०), सिंह (दि०), तीर्थंकर—सुपार्श्वनाथ।

८ यक्ष (शासन देवता)—विजय (श्वे०), श्याम (दि०), श्वेताम्बर सकेत—त्रिनेत्र, धातु की छोटी थाली, कुठार और वरमुद्रा, वाहन—हस, तीर्थंकर—चद्रप्रभु।

९ यक्ष (शासन देवता)—अजित, श्वेताम्बर सकेत—नीबूफल, जपमाला, नेवला, भाला, दिगम्बर सकेत—शक्ति, वरदामुद्रा, फल और जपमाला, वाहन—कछुआ, तीर्थंकर—सुविधिनाथ या पुष्पदन्त।

१० यक्ष (शासन देवता)—ब्रह्मा, श्वेताम्बर सकेत—चतुर्मुख, त्रिनेत्र, अष्टबाहु, नीबूफल, गदा पार्श्व, अभय, नेवला, ऐश्वर्य-सूचक, दण्ड, अकुश और जपमाला, दिगम्बर सकेत—चतुर्मुख, त्रिनेत्र, अष्टबाहु, धनुष, यष्टि, ढाल, तलवार और वरदामुद्रा, वाहन—पद्म, तीर्थंकर—शीतलनाथ।

११ यक्ष (शासन देवता)—ईश्वर (दि०) या यक्षेत (श्वे०),

श्वेताम्बर सकेत—त्रिनेत्र, चतुर्बाहु, नेवला, जपमाला, यष्टि और फल, दिगम्बर सकेत—त्रिनेत्र, चतुर्बाहु, त्रिशूल, यष्टि, जपमाला और फल, वाहन—वृषभ, तीर्थंकर—श्रेयासनाथ।

१२ यक्ष (शासन देवता)—कुमार, श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, नीबू, शर, नकुल और धनु, दिगम्बर सकेत—त्रिशिर, षड्हस्त, धनु, नकुल, फल, गदा और वरमुद्रा, वाहन—श्वेत हस, तीर्थंकर—वासुपूज्य।

१३ यक्ष (शासन देवता)—सम्मुख (श्वे०) या श्वेतम् (दि०), श्वेताम्बर सकेत—षडानन, द्वादशवाहु, फल, धातु की छोटी थाली, शर, तलवार, पाश, जपमाला, नकुल, चक्र, बन्धन, फल, अकुश और अभयमुद्रा, दिगम्बर सकेत—चतुर्मुख, अष्टवाहु, कुठार, चक्र, तलवार, ढाल और यष्टि, वाहन—मयूर, तीर्थंकर—विमलनाथ।

१४ यक्ष (शासन देवता)—पाताल, श्वेताम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्वाहु पद्म, तलवार, पाश, नकुल, फल और जपमाला, दिगम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्वाहु, अकुश, भाला, धनु, रज्जु, हल, फल एव त्रिफला, विशिष्ट सर्प का एक चन्दोवा, वाहन—शश, तीर्थंकर—अनन्तनाथ।

१५ यक्ष (शासन देवता)—किन्नर, श्वेताम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्वाहु, नीबू, ऐश्वर्य-सूचक, दण्ड, अभय, नकुल, पद्म और जपमाला, दिगम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्वाहु, थाली, वज्र, अकुश, जपमाला और वरदामुद्रा, वाहन—कूर्म (श्वे०), मीन (दि०), तीर्थंकर—धर्मनाथ।

१६ यक्ष (शासन देवता)—गरुड (श्वे०), किंपुरुष (दि०), श्वेताम्बर सकेत—नीबू, पद्म, नकुल और जपमाला, दिगम्बर सकेत—सर्प, पाश और धनु, वाहन—वराह (श्वे०), गज (दि०), तीर्थंकर—शान्तिनाथ।

१७ यक्ष (शासन देवता)—गन्धर्व, श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वरदामुद्रा, पाश, नीबू, अकुश, दिगम्बर सकेत—सर्प, पाश और धनु, वाहन—विहगम (दि०), हस (श्वे०), तीर्थंकर—कुन्थुनाथ।

१८. यक्ष (शासन देवता)—यक्षेत (श्वे०), वाखेन्द्र (दि०),

श्वेताम्बर सकेत—षडानन, द्वादशबाहु, नीबू, शर, खड्ग, गदा, पाश, अभय-मुद्रा, नकुल, धनु, फल, भाला, अकुश और जपमाला, दिगम्बर सकेत—षडानन, द्वादशबाहु, धनु, वज्र, पाश, गदा, अकुश, वरदामुद्रा, फल, शर और पुष्पहार, वाहन—कम्बु (दि०), मयूर (श्वे०), तीर्थंकर—अरनाथ।

१९ यक्ष (शासन देवता)—कुबेर, श्वेताम्बर सकेत—चतुर्मुख, अष्टबाहु, वरदा, कुठार, भाला, अभय, नीबू, शक्ति, गदा और जपमाला, दिगम्बर सकेत—चतुर्मुख, अष्टबाहु, ढाल, धनु, यष्टि, पद्म, खड्ग, थाली, पाश और वरदामुद्रा, वाहन—गज, तीर्थंकर—मल्लिनाथ।

२० यक्ष (शासन देवता)—वरुण, श्वेताम्बर सकेत—त्रिनेत्र, अष्टशिर, जटायुतकेश, अष्टबाहु, नीबू, ऐश्वर्यसूचक, दण्ड, शर, भाला, नकुल, पद्म, धनु और कुठार, दिगम्बर सकेत—त्रिनेत्र, अष्टशिर, जटायुतकेश, चतुर्बाहु, ढाल, खड्ग, फल और वरदामुद्रा, वाहन—वृषभ, तीथकर—मुनिसुव्रत।

२१ यक्ष (शासन देवता)—भृकुटी (श्वे०) या नन्दगा (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्मुख, अष्टबाहु, नीबू, भाला, ऐश्वर्यसूचक, दण्ड, अभय, कुठार, नकुल, वज्र, जपमाला, दिगम्बर सकेत—चतुर्मुख, अष्ट-बाहु, ढाल, खड्ग, धनु, शर, अकुश, पद्म, थाली और वरदा, वाहन—वृषभ, तीर्थंकर—नमिनाथ।

२२ यक्ष (शासन देवता)—गोमेध (श्वे०), सर्वाह्ण (दि०) या पुष्पयान (दि०), श्वेताम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्बाहु, कलम्बू, कुठार, थाली, नकुल, त्रिशूल और भाला। दिगम्बर सकेत—त्रिमुख, षड्बाहु, हथोडा, कुठार, यष्टि, फल, वज्र और वरदामुद्रा, वाहन—नर (श्वे०), पुष्परथ (दि०) तीर्थंकर—अरिष्टनेमि।

२३ यक्ष (शासन देवता)—पार्श्व (श्वे०), धरणेन्द्र (दि०), श्वेताम्बर सकेत—सर्पाकार, चतुर्बाहु, नकुल, सर्प, नीबू और सर्प।

दिगम्बर सकेत—सर्पाकृति, सर्प, पाश और वरदा, वाहन—कूर्म, तीर्थंकर—पार्श्वनाथ।

२४ यक्ष (शासन देवता)—मातग, श्वेताम्बर सकेत—द्विबाहु, नकुल और नीबू, दिगम्बर सकेत—द्विबाहु, वरदामुद्रा और नीबू, मस्तक पर धर्मचक्र का सकेत, वाहन—गज, तीर्थंकर—महावीर।

चौबीस शासन देवियो का विशद वर्णन

यक्षिणियो की मूर्ति तीर्थंकरो के वाए पार्श्व मे स्थापित की जाती है।

१ यक्षी—चक्रेश्वरी (श्वे०), अप्रतिचक्रा (दि०), श्वेताम्बर सकेत—अष्टबाहु, वरदामुद्रा, शर, थाली, पाश, धनु, वज्र और अकुश। दिगम्बर सकेत—द्वादश अथवा चतुर्बाहु, आठथाली, नीबूफल, वरदामुद्रा एव दो वज्र, वाहन—गरुड, तीर्थंकर—ऋषभनाथ या आदिनाथ।

२ यक्षी—अजितबाला (श्वे०), रोहिणी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—वरदामुद्रा, पाश, बिजौराफल और थाली, वाहन—लोहासन (दि०), वृषभ (श्वे०), तीर्थंकर—अजितनाथ।

३ यक्षी—दुरितारि (श्वे०), प्रज्ञप्ति (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वरदा, जपमाला, फल और अभयमुद्रा, दिगम्बर सकेत—षड्बाहु, चन्द्राकृति, विशिष्ट कुठार, फल, खड्ग और वरदामुद्रा से शोभित, वाहन—मेष (श्वे०), मयूर (दि०), तीर्थंकर—सभवनाथ।

४ यक्षी—कालिका (श्वे०), वज्रशृखला (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वरदा, पाश, सर्प और अकुश, दिगम्बर सकेत—चतुर्बाहु, सर्प, पाश, जपमाला और फल, वाहन—हस (दि०), पद्म (श्वे०), तीर्थंकर—अभिनन्दननाथ।

५ यक्षी—महाकाली (श्वे०), पुरुषदत्ता (दि०), श्वेताम्बर सकेत—

चतुर्बाहु, वरदा, पाश्र्व, सर्प और अकुश, दिगम्बर सकेत—चतुर्बाहु, सर्प, पाश, जपमाला और फल, वाहन—हस (दि०), पद्म (श्वे०), तीर्थंकर—सुमतिनाथ।

६ यक्षी—अच्युता (श्वे०), श्यामा, मनोवेगा (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, शारद, वीणा, धनुष और अभयमुद्रा, दिगम्बर सकेत—चतुर्बाहु, तलवार, भाला, फल और वरमुद्रा, वाहन—नर (श्वे०), अश्व (दि०), तीर्थंकर—पद्मप्रभु।

७ यक्षी—शान्ता (श्वे०), काली (दि०), श्वेताम्बर सकेत—वरदा, जपमाला, भाला और अभयमुद्रा दिगम्बर सकेत—त्रिशूल, फल, वरद और यष्टि, वाहन—गज (श्वे०), वृषभ (दि०), तीर्थंकर—सुपाश्र्वनाथ।

८ यक्षी—भृकुटी (श्वे०), ज्वालमालिनी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—खड्ग, धनु, गदा, भाला और कुठार, दिगम्बर सकेत—थाली, शर, पाश, ढाल, त्रिशूल, खड्ग, धनु इत्यादि। वाहन—मार्जार, हस (श्वे०), महिष (दि०), तीर्थंकर—चन्द्रप्रभु।

९ यक्षी—सुतारका (श्वे०), महाकाली (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वरदा, जपमाला, कुम्भ और अकुश, दिगम्बर सकेत—चतुर्बाहु, वज्र, गदा, फल और वरमुद्रा, वाहन—वृषभ (श्वे०), कूर्म (दि०), तीर्थंकर—सुविधिनाथ या पुष्पदन्त।

१० यक्षी—अशोका (श्वे०), मानवी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—वरदा, पाश्र्व, फल और अकुश, दिगम्बर सकेत—फल, वरमुद्रा, धनु इत्यादि, वाहन—पद्म (श्वे०), सूअर (दि०), तीर्थंकर—शीतलनाथ।

११ यक्षी—श्रीवत्सादेवी, मानवी (श्वे०), गौरी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—वरदा, गदा, कुम्भ और अकुश, दिगम्बर सकेत—गदा, पद्म, कुम्भ और वरदामुद्रा, वाहन—केशरी (श्वे०), कृष्णसार (दि०), तीर्थंकर—श्रेयान्सनाथ।

१२ यक्षी—चडा, प्रचडा (श्वे०), गान्धारी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्बाहु, शर, पाश, धनु और सर्प, दिगम्बर सकेत—गदा, पद्म-

युगल और वरदामुद्रा, वाहन—अश्व (श्वे०), घड़ियाल (दि०), तीर्थंकर—वासुपूज्य।

१३ यक्षी—विदिता, विजया (श्वे०), वैरोति (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, शर, पाश, धनु और सर्प, दिगम्बर संकेत—दो साप, धनु और शर, वाहन—पद्म (श्वे०), सर्प (दि०), तीर्थंकर—विमलनाथ।

१४ यक्षी—अंकुशा (श्वे०), अनन्तमती (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, खड्ग, पाश, भाला और अंकुश, दिगम्बर संकेत—चतुर्बाहु, धनु, शर, फल और वरमुद्रा, वाहन—पद्म (श्वे०), हंस (दि०), तीर्थंकर—अनन्तनाथ या अनन्तजित।

१५ यक्षी—कंदर्पा, पन्नगादेवी (श्वे०), मानसी (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, पद्मयुगल, अंकुश और अभय, दिगम्बर संकेत—चतुर्बाहु, पद्मयुगल, धनु, वरद, अंकुश और शर, वाहन—अश्व (श्वे०), मीन (श्वे०), व्याघ्र (दि०), तीर्थंकर—धर्मनाथ।

१६ यक्षी—निर्वाणी (श्वे०), महामानसी (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, पुस्तक, पद्म, कमण्डलु और पद्मिनी, दिगम्बर संकेत—थाली, फल, खड्ग और वरद, वाहन—पद्म (श्वे०), केकी (दि०), तीर्थंकर—शान्तिनाथ।

१७ यक्षी—बाला, अच्युता (श्वे०), विजया (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, बिजौराफल, भाला, मूसली, पद्म, दिगम्बर संकेत—शंख, खड्ग, थाली और वरदामुद्रा, वाहन—मयूर (श्वे०), कृष्ण शूअर (दि०), तीर्थंकर—कुन्थुनाथ।

१८ यक्षी—धरणी (श्वे०), तारा (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्बाहु, नीबूफल, पद्म-युगल, जपमाला, दिगम्बर संकेत—सर्प, वज्र, मृग और वरदामुद्रा, वाहन—पद्म (श्वे०), हंस (दि०), तीर्थंकर—अरनाथ।

१९ यक्षी—वैराती (श्वे०), अपराजिता (दि०), श्वेताम्बर संकेत—वरदा, जपमाला, नीबू और शक्ति, दिगम्बर संकेत—नीबू,

खड्ग, शल और वरदामुद्रा, वाहन—पद्म (श्वे०), केशरी (दि०), तीर्थंकर—मल्लिनाथ।

२० यक्षी—नरदत्ता (श्वे०), वाहुरूपिणी (दि०), श्वेताम्वर सकेत—चतुर्वाहु, वरदा, जयमाला, नीवू, त्रिशूल और कुम्भ, दिगम्वर सकेत—ढाल, फल, खड्ग, वरदामुद्रा, वाहन—भद्रासन (श्वे०) कृष्णसर्प (दि०), तीर्थंकर—मुनिसुव्रत।

२१ यक्षी—गान्धारी (श्वे०) चामुण्डा (दि०), श्वेताम्वर सकेत—चतुर्वाहु, वरदामुद्रा, खड्ग, नीवूफल और भाला, दिगम्वर सकेत—जपमाला, यष्टि, ढाल और खड्ग, वाहन—हस (श्वे०), शश (दि०), तीर्थंकर—नमिनाथ।

२२ यक्षी—अम्विका, कुष्माडी (श्वे०), आम्रा (दि०), श्वेताम्वर सकेत—आम्र-गुच्छ, पाश, शिशु और अकुश, दिगम्वर सकेत—आम्रगुच्छ और शिशु, वाहन—केशरी, तीर्थंकर—नेमिनाथ।

२३ यक्षी—पद्मावती, श्वेताम्वर सकेत—पद्म, पाश, फल और अकुश, दिगम्वर सकेत—(क) चतुर्वाहु होने पर अकुश, जपमाला, पद्म-युगल, (ख) षडवाहु होने पर पाश, खड्ग, चक्र, भाला, वक्रचन्द्र, गदा और यष्टि, (ग) अष्टभुजा होने पर पाश इत्यादि, (घ) चौवीस भुजा होने पर शख, खड्ग, चक्र, वक्रचन्द्र, पद्म, नीलनलिनी, धनु, भाला, पाश, घटी, कुशतृण, शर, यष्टि, ढाल, कुठार, त्रिशूल, वज्र, पुष्पहार, फल, गदा, पत्र, वृन्त, वरदामुद्रा इत्यादि, तीर्थंकर—पार्श्वनाथ।

२४ यक्षी—सिद्धायिका, श्वेताम्वर सकेत—चतुर्भुजा, पुस्तक, नीवूफल, अभयमुद्रा और पुस्तक, दिगम्वर सकेत—वरदामुद्रा और पुस्तक, वाहन—केशरी, तीर्थंकर—महावीर या वर्धमान।

नवग्रह या ज्योतिष्क देवो का वर्णन

•

१ अचल—पूर्व, ज्योतिष्कदेव—सूर्य, वाहन—सप्ताश्वचालित रथ। श्वेताम्बर सकेत—पद्मयुगल।

२ अचल—दक्षिण-पूर्व, ज्योतिष्कदेव—शुक्र, वाहन—सर्प (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—कुम्भ, दिगम्बर सकेत—त्रिभगसूत्र, सर्प, पाश और जपमाला।

३ अचल—दक्षिण, ज्योतिष्कदेव—मगल, वाहन—मिट्टी खोदने का यन्त्र, वरद, भाला, त्रिशूल, गदा, दिगम्बर सकेत—भाला।

४ अचल—दक्षिण-पश्चिम, ज्योतिष्कदेव—राहु, वाहन—केशरी (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—कुठार, दिगम्बर सकेत—वैजयन्ती।

५ अचल—पश्चिम, ज्योतिष्कदेव—शनि, वाहन—कूर्म, श्वेताम्बर सकेत—कुठार, दिगम्बर सकेत—त्रिभगसूत्र।

६ अचल—उत्तर-पश्चिम, ज्योतिष्कदेव—चन्द्र, वाहन—दस अश्व द्वारा चालित रथ, श्वेताम्बर सकेत—अमृतपूर्ण कुम्भ, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

७ अचल—उत्तर, ज्योतिष्कदेव—बुध, वाहन—हस, सिंह (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—पुस्तक, खड्ग, ढाल, गदा, वरद, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

८ अचल—उत्तर-पूर्व, ज्योतिष्कदेव—वृहस्पति, वाहन—हस (श्वे०), पद्म (दि०), श्वेताम्बर सकेत—पुस्तक, जपमाला, यष्टि, कमण्डलु, वरद, दिगम्बर सकेत—पुस्तक, कमण्डलु और जपमाला।

९ अचल—शासन के लिए कोई निर्दिष्ट अचल (दिशा-स्थान) नही है। ज्योतिष्कदेव—केतु, वाहन—गोखर सर्प (काला साप या विषैला सर्प) (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—गोखर सर्प, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

श्रुतदेवी (सरस्वती) और षोडश विद्यादेवियों का वर्णन

श्रुतदेवी या सरस्वती को समस्त सोलह विद्यादेवियों की अधिकर्त्री माना जाता है। उसकी पूजा अन्यान्य अधस्तन देव-देवियों की पूजा करने से पूर्व सम्पन्न होती है। कार्तिक शुक्ला पचमी को उसकी आराधना के लिए जैन लोग विशेष उत्सव का आयोजन करते हैं, इस उत्सव को 'ज्ञान पचमी' का उत्सव कहा जाता है।

१ देवी—श्रुतदेवी या सरस्वती, वाहन—हस (श्वे०), केकी (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्भुजा, पद्म (वरदा या वाद्ययन्त्र), पुस्तक, जपमाला। दिगम्बर सकेत भी ऐसे ही हैं।

२ देवी—रोहिणी, वाहन—गौ (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—शख, जपमाला, धनुष और शर। दिगम्बर सकेत—कुम्भ, शख, पद्म और फल।

३ देवी—प्रज्ञापति, वाहन—मयूर (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—पद्म, भाला, वरद और नीबूफल, दिगम्बर सकेत—खड्ग और थाली।

४ देवी—वज्राकुश, वाहन—गज (श्वे०), विमान (दि०), श्वेताम्बर सकेत—खड्ग, वज्र, ढाल, भाला, वरद, नीबूफल, अकुश, दिगम्बर सकेत—अकुश और वाद्ययन्त्र सितार।

५ देवी—अप्रतिचक्र (श्वे०) और जम्बूनदा (दि०), वाहन—गरुड

(श्वे०), मयूर (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चार भुजाओ मे थाली। दिगम्बर सकेत—खड्ग और भाला।

६ देवी—पुरुपदत्ता, वाहन—महिष (श्वे०), मयूर (दि०), श्वेताम्बर सकेत—खड्ग, ढाल, वरद और नीबूफल। दिगम्बर सकेत—वज्र और पद्म।

७ देवी—काली, वाहन—मृग (दि०), पद्म (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—दो भुजा होने पर वरद और गदा धारण, चार भुजा होने पर जपमाला, गदा, वज्र, अभयमुद्रा। दिगम्बर सकेत—खड्ग और यष्टि से शोभित हाथ।

८ देवी—महाकाली, वाहन—नर (श्वे०), शव (दि०), श्वेताम्बर सकेत—जपमाला, फल, घटी और वरद या जपमाला, वज्र, घटी और अभय। दिगम्बर सकेत—पद्म।

९ देवी—गौरी, वाहन—कुम्भी (श्वे०) (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्भुजा, वरद, गदा, जपमाला, स्थल पद्म, दिगम्बर सकेत—पद्म।

१० देवी—गाधारी, वाहन—पद्म (श्वे०), कूर्म (दि०), श्वेताम्बर सकेत—यष्टि, वज्र, वरद, अभयमुद्रा, दिगम्बर सकेत—खड्ग और थाली।

११ देवी—महाज्वाला या ज्वालमालिनी, वाहन—मार्जार, शूअर (श्वे०), महिष (दि०), श्वेताम्बर सकेत—बहुत अस्त्र धारिणी, दिगम्बर सकेत—धनुष, ढाल, खड्ग और थाली।

१२ देवी—मानवी, वाहन—पद्म (श्वे०), सूअर (दि०), श्वेताम्बर सकेत—चतुर्भुजा, वरदा, जपमाला और वृक्ष-शाखा, दिगम्बर सकेत—त्रिशूलधारण।

१३ देवी—वैरोती, वाहन—मर्प (श्वे०), सिंह (दि०), श्वेताम्बर सकेत—खड्ग, सर्प और ढाल, दिगम्बर सकेत—सर्प।

१४ देवी—अच्युता, वाहन—अश्व (दि०), श्वेताम्बर सकेत—

धनुष, खड्ग, ढाल और शर, दिगम्बर संकेत—खड्ग।

१५ देवी—मानसी, वाहन—हंस (श्वे०), केशरी (श्वे०), सर्प (दि०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्भुजा, वरद, वज्र, जपमाला।

१६ देवी—महामानसी, वाहन—सिंह (श्वे०), हंस (दि०), श्वेताम्बर संकेत—वरद, खड्ग, कमण्डलू और माला, दिगम्बर संकेत—जपमाला, वरदमुद्रा और पुष्पहार।

दिक्पाल या लोकपाल या वसुदेवताओं का वर्णन

जैन धर्म के अनुगामी दिक्पाल या वसुदेवता दिशाओ के प्रहरी होते हैं। वे सर्वदा तीर्थंकरो की सेवा मे रत रहते हैं। दस दिक्पालो की मूर्तिकला श्वेताम्बरो द्वारा स्वीकृत है, दिगम्बर केवल प्रथम आठ प्रहरी देवताओ को स्वीकार करते हैं। ब्रह्मा और नाग उनके अन्तर्गत नही हैं।

१ दिक्—पूर्व, दिक्पाल—इन्द्र, वाहन—गज (श्वे०) (दि०), श्वेताम्बर सकेत—वज्र, दिगम्बर सकेत—वज्र।

२ दिक्—दक्षिणपूर्व, दिक्पाल—अग्नि, वाहन—मेष, श्वेताम्बर सकेत—भाला, सप्तशिखा, धनु और शर, दिगम्बर सकेत—भाला, सप्त-शिखा और यज्ञ मे होनेवाली छोटी कलसी।

३ दिक्—दक्षिण, दिक्पाल—यम, वाहन—महिष, श्वेताम्बर सकेत—यष्टि, दिगम्बर सकेत—यष्टि।

४ दिक्—दक्षिण-पश्चिम, दिक्पाल—नैर्ऋत, वाहन—प्रेत (श्वे०), भल्लुक (दि०), श्वेताम्बर सकेत—परिधान, व्याघ्र-चर्म, गदा, खड्ग और पिनाक, दिगम्बर सकेत—गदा।

५ दिक्—पश्चिम, दिक्पाल—वरुण, वाहन—शिशुमार (सूस नामक जलजतु) (दि०), मीन (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—पाश एव

कृत्रिम सागर धारण, दिगम्बर संकेत—मुक्ता, शैवाल से खचित एवं पाश-धारण।

६ दिक्—उत्तर-पश्चिम, दिक्पाल—वायु, वाहन—मृग (श्वे०) (दि०), श्वेताम्बर संकेत—वज्र और वैजयन्ती, दिगम्बर संकेत—काष्ठास्त्र।

७ दिक्—उत्तर, दिक्पाल—कुबेल, वाहन—नर (श्वे०), रथ (दि०), श्वेताम्बर संकेत— रत्न और मुद्गर, दिगम्बर संकेत—दो भुजा अथवा चार भुजा, पुष्पक विमान मे आरोहण।

८ दिक्—उत्तर-पूर्व, दिक्पाल—ईशान, वाहन—वृषभ (श्वे०) (दि०), श्वेताम्बर संकेत—धनु, त्रिशूल और सर्प, दिगम्बर संकेत—धनु, त्रिशूल, सर्प और खप्पर।

९ दिक्—ऊर्ध्वाचल, दिक्पाल—ब्रह्मा, वाहन—हंस (श्वे०), श्वेताम्बर संकेत—चतुर्भुजा, पुस्तक और पद्म, दिगम्बर संकेत—अज्ञात।

१० दिक्—पाताल, दिक्पाल—नाग, वाहन—पद्म, श्वेताम्बर संकेत—हाथ मे सर्प धारण, दिगम्बर संकेत—

कुछ विक्षिप्त देव-देवियों का वर्णन

१ देव—हरिणगमेषी या नैगमेष (सम्मान जन्मवर प्रदानकारी) वाहन—अज्ञात, श्वेताम्बर सकेत—बकरे का सिर, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

२ देव—क्षेत्रपाल (क्षेत्र-रक्षाकारी), वाहन—कुत्ता (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—जटा, सर्प, पवित्र जनेऊ, अस्त्रसज्जित बीस हाथ, छ भजा होने पर मुद्गर, पाश, डमरू, धनुष, अकुश और गदा-धारण, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

३ देव—गणेश-चतुर्नाथ, वाहन—चूहा (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—हाथो की सख्या २ से ४, ६, ९, १८ और ११८ तक अदल-बदल होती है। कुठार, वरद, मोदक और अभय, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

४ देवी—श्री या लक्ष्मी (धनदेवी), वाहन—हाथी (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—नलिनी, दिगम्बर सकेत—चार भुजा, पुष्प और पद्म।

५ देव—शान्तिदेव, वाहन—पद्म (श्वे०), श्वेताम्बर सकेत—चार भुजा, वरदा, जपमाला, कमण्डलू और कलश, दिगम्बर सकेत—अज्ञात।

परिशिष्ट

१

उड़ीसा में जैन-निदर्शन

बालेश्वर जिले मे बुनकरो की सख्या ५६००० है। ये लोग पहले बहुत सुन्दर वस्त्र बुनते थे। विदेशी वस्त्रो का आयात होने के कारण इनका व्यवसाय नष्ट हो गया। बहुत से लोग बुनाई का धधा छोडकर कृषि और मजदूरी के काम मे लग गये। इनमे से जो अश्विनी और चौरिआ तन्ती हैं, वे सर्वप्रथम बगाल से बालेश्वर मे सूत के सूक्ष्म वस्त्र बुनने का प्रशिक्षण लेने के लिए आये थे। मानभूम गजट से पता चलता है कि सराको मे अश्विनीतन्ती भी हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि बालेश्वर के अश्विनी बुनकर पहले श्रावक थे एव इनका धर्म जैन था। बालेश्वर जिले मे 'अघोरि' नामक एक जाति है, अर्थात् वे उग्रक्षत्रिय हैं। वे व्यवसाय करते थे। शायद वे एक समय अग्रवाल थे।

सुवर्ण रेखा नदी पर बालिआपाल के सात मील पूर्व मे करतसाल गाव है। वहा पर करट राजा का प्राचीन किला (कोट) है।[1]

---

१ प्राचीन जैन स्मारक (बग, बिहार, उडीसा) लेखक—धर्मदिवाकर शीतलप्रसाद जैन ग्रथ मे सगृहीत। जैन पुस्तकालय, गाधी चौक सूरत।

सिंहभूम जिला

(बगाल गजेटिअर ई० १९१०, Vol No 20)

सिंहभूम छोटा नागपुर के दक्षिण-पूर्व मे विद्यमान है। क्षेत्रफल ३८९१ वर्ग मील है। जनसख्या ६१५७९। पूर्व मे मेदिनिपुर, दक्षिण में मयूरभञ्ज, पश्चिम मे गागपुर और राची एव उत्तर मे राची और मानभूम है।

वामन घाटी से प्राप्त ताम्रलेख (द्वादश शताब्दी) मे पता चलता है कि मयूरभञ्ज के भञ्जवशीय राजाओ ने श्रावको को अनेक गाव दिये थे। उक्त वश के सस्थापक वीरभद्र एक कोटि साधुओ के गुरु थे। (बगाल जरनल एस० ई० १८७१, स० १६१-६९) ये जैन थे। वहा के तावे की खान मे यहा के श्रावक काम करते थे। वहा पर पहाड, घाटी, गहन जगल और निकट के गावो मे बहुत प्राचीन अवशेप आज भी विद्यमान हैं। यह प्रदेश श्रावको के अधीन था। मेजर टिकल ने लिखा है कि (१८४०) सिंहभूम श्रावको के हाथ मे था। किन्तु वर्तमान मे नही है। उस समय उनकी सख्या दूसरो की अपेक्षा अधिक थी। उनके वास्तविक देश का नाम शिखरभूमि और पाञ्चेत था। उन्हे अनेक प्रकार की यातनाए देकर वाहर निकाल दिया गया है। (जरनल ए० एम० बगाल, १८००, स० ६९६।)

कर्नल डालटन ने बगाल एथनोलजी मे लिखा है—सिंहभूम के कई एक विभाग इस प्रकार के एक दल के लोगो के हाथ मे थे, जो कि मानभूम मे अपने प्राचीन स्मारक स्थापित कर गये हैं। वस्तुत वहा पर अनेक आदिवासी लोग थे। उन्हें श्रावक या जैन कहा जाता था। अब भी कोलहन के 'हो' जाति के लोग कतिपय पोखरो (तालाबो) को सरावक (श्रावक) सरोवर कहते हैं।

जैन श्रावको ने जगल के भीतर ताम्रखान की खोज कर उसमे सपूर्ण शक्ति और समय लगाया है। मानभूम का जैन मन्दिर चौदहवी या पन्द्रहवी शताब्दी से वाद का नही है। इसलिए जैन धर्म ने उस समय से पहले वहा पर प्रवेश किया हो, यह सभव लगता है।

वेनुसागर मे कई एक प्राचीन (मातवी शताब्दी) मन्दिर है। एक बौद्ध मूर्ति और एक जैन मूर्ति है। वेनुसागर किशनगढ के राजा 'कृष्ण' के पुत्र 'वेनु' द्वारा खुदाया गया है। कोलहन—यहा के प्राचीन निवासी श्रावकों ने अनेक पुष्करणिया खुदाई थी। गआम—धनभूमि के महुलिआ गाव से दक्षिण-पश्चिम मे दो मील की दूरी पर कई एक स्थानो मे श्रावको की बस्ती होने के प्रमाण मिलते हैं। 'शिक्षा' (बाकीपुर ता० ४-५-१९२२) पत्रिका मे पता चलता है कि 'हो' एव भूया को छोड़कर दूसरी जाति के लोगो को इस स्थान (सिंहभूम) मे आये हुए तीन सौ वर्षों से अधिक नही हुए है। सौ वर्ष पूर्व सिंहभूमि के अनेक स्थानो मे, विशेषकर पाडाहट मे अनेक जैन लोग थे। वहा के प्राचीन अधिवासी उन्हे 'सारोग' (सराकगी) कहते है। तत्कालीन पुरातन मन्दिर, मूर्तिया, गुफाए, पुष्करणिया आदि के अवशेष देखकर यह प्रतीत होता है कि वे ऐश्वर्यशाली और स्वतत्त्वचेता थे। वहा पर भूमि मे से मुद्राए स्वर्णमुद्राए, चित्रित कांच की टूटी चूड़िया, मूल्यवान प्रस्तर की मालाए मिली है।

हामी, गुण्डु, मोन, हुरण्डी, देउलटिह, तूआडिह, मोठ-लोटह आदि गावो मे प्राचीन जैन मूर्तियां, मन्दिरो और तालाबो के चिह्न हैं। मूर्तियो मे से अधिकाश मूर्तिया पार्श्वनाथ की है। हुरण्डी मे ऋषभदेव की एक मूर्ति भी है। उस मूर्ति की पूजा लोग वासुदेव की मूर्ति समझकर करते थे। तैल, सिन्दूर चढाया जाता था। तूआडिह के श्रावक जनेऊ पहनते हैं और पार्श्वनाथ की पूजा करते है। महापात्र, पात्र, दत्त, मानरा, वर्द्धन महात्र अहिबुधि, मामग्री, देवता, प्रमाणिक, आचार्य नहग, दाम, माउ, महात, मोहना, मण्डल, वैशाख, राउत, नायक, निशाक, चौधूरी, गड़ी, सेनापति, उच्च, नाहार, इन सज्ञाओ के धारी जैन गोत्र चार है—अनन्तदेव, क्षेमदेव, काश्यप और कृष्णदेव।

सराक बुनकर और रगणी बुनकरो मे परस्पर वैवाहिक सबध नही होता है। ये स्वय कृषिकार्य नही करते है। इनके कोई पुरोहित नही होते है। रगणी बुनकर ब्राह्मणो के हाथ से पानी भी नही पीते है। सराक तन्त्री

गूलर आदि फलो मे जीव पड जाने के कारण नही खाते हैं एव प्याज, गोभी और आलू भी नही खाते हैं। ये लोग खडगिरि आते है। विवाह-काण्ड और शुद्धि-क्रिया नाम के दो ग्रन्थ इनके अपने हैं, तद्द्वारा ही ये बिना पुरोहित के वैवाहिक सस्कार सम्पन्न कर लेते हैं।

कटक जिला

आसिआ पहाड—छतिआ पहाड, चान्दोल, जाजपुर, रत्नगिरि, उदयगिरि (जाजपुर) प्रदेशो मे जैन मूर्तिया हैं। आसिआ पहाड को चतुरावोट भी कहते हैं। जाजपुर मे अखण्डेश्वर मन्दिर की अन्य मूर्तियो के बीच मे एक छोटी जैन मूर्ति भी विद्यमान है। कटक जिले के तिगिरिआ, वडम्वा और वाकिर एव पुरी जिले के पिपिलि थाना मे सराकतन्त्री निवास करते हैं।

कोरापुट जिले मे जैनमूर्ति

भैरव सिहपुर—जयपुर सीमा का एक गाव है। यह पर्वत मूल से २००० फुट ऊचा है। जनसख्या—११४१ (१९४१) है।

एक समय यह गाव जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहा अनेक जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया है। कई एक फुट, कई पाच फुट और कई एक फुट से भी कम की (पैर के बीच-बीच की) हैं। यहा पर ऋषभनाथ की एक आसीन (निषण्ण मुद्रा मे) मूर्ति प्रस्तर मे निर्मित है। वर्तमान मे इसका उपयोग गाव के निवासी कुल्हाडी, परशु की धार तेज करने के लिए करते हैं। यहा पर एक शिव मन्दिर है। उस मन्दिर की भीतरी दीवार मे अनेक जैन मूर्तियो की चिनाई की गई है। वर्तमान मे यहा ब्राह्मण निवास करते हैं।

नन्दपुर मे कई एक जैन मूर्ति का दर्शन होता है। किन्तु उस समय किस-किस जाति के लोग जैन थे, उसका कोई प्रमाण नही है (पृ०२२, कोरापुट जिला गजट १९४५)

२

उडीसा का इतिहास

उडीसा के प्राचीन इतिहास और कृपि-खेती के प्रति एक शोचनीय उदासीनता का परिदर्शन होना है। आज के उडीमा को देखने से यह एक दिन उत्तर-दक्षिण मे गगा से गोदावरी एव पश्चिम मे अमरकण्टक से पूर्व मे महासमुद्र तक एक विराट् भूखण्ड था, यह सत्य प्रतीत नही होता। यह विशाल भूखण्ड कलिंग, उत्कल, ओड एव कोशल, इम प्रकार चार राज्यो को लेकर गठित हुआ था और चारो राज्य अपने-अपने स्वतन्त्र उडीसा मे स्वावलम्बी होकर भी मभ्यता और मस्कृति की दृष्टि मे उनमे एक प्रकार का सामजस्य रहा हुआ था। इनमे मे कलिंग का प्राधान्य और गुरुत्व अपेक्षाकृत अधिक था एव समय-ममय पर अपना वचम्व स्यापित करने के लिए दूमरे तीनो राज्यो पर कलिंग वल-प्रयोग भी करता था। उपकूलवर्ती प्रदेशो की ऊर्वर भूमि अनेक नदी-नालो द्वारा पुष्ट और मृष्ट वनी हुई थी। इमकी विशिष्टता का कारण वहुत लम्वी दूर तक फैला हुआ ममुद्र-तट था। इमके पश्चिम मे गभीर अरण्य ममाकीर्ण पर्वतमाला थी और विराट् पठार-पहाडी मैदान था। यह भूखण्ड ही एक दिन कलिंग का अधिवास था। पौराणिक आख्यान से पता चलता है कि कलिंग में आने के लिए ताम्रलिप्त, कवट एव सूह्म होकर गगा नदी के मुहाने से आना होता था। मार्ग में वैतरणी का सिन्धु-सगम पडता था।

प्राचीन विवरणी

बौद्ध ग्रन्थ 'दीर्घनिकाय' से पता चलता है कि राजा तरुण के शासन-काल में कलिग राष्ट्र भारत के सात राजनैतिक भागो के अन्तर्गत था एव राजा शतभू शासन करते थे। उनकी राजधानी दन्तपुर थी। राजा शतभू काशी नृप धृतराष्ट्र के समसामयिक होते हैं। इन्ही काशी राजा के सबध मे 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख मिलता है। इस विवरण से इतना कहा जा सकता है कि वैदिक युग में भारत जिन सात खण्डो मे विभक्त था, उनमें कलिग एक था। बौद्ध जातको मे कलिग राष्ट्र, उसकी लोक-नीति, धार्मिक विचार एव सस्कृति के भूरि-भूरि उल्लेख देखने पर यह सहजतया कहना होगा कि कलिग का प्राचीनत्व निश्चित ही बौद्ध युग से बहुत पूर्ववर्ती है। शतभ्, करकण्ड्, कलिग, नलीकिर एव उद्‌गति आदि राजाओ की आख्या यिकाए लोक-भाषा में इस तरह समुज्ज्वल एव जीवन्त रूप में लिपि-बद्ध रही हुई हैं कि उससे कलिग की सत्ता बौद्ध-पूर्व प्रमाणित होती है। किन्तु 'अगुत्तर निकाय' बौद्ध ग्रथ में ई० पू० छह शताब्दी में भारत के जिन सोलह जनपदो का उल्लेख हुआ है, उनमे कलिग का नाम नही है, यह आश्चर्य-जनक-सी बात है। वास्तव मे इस निकाय की राष्ट्र तालिका को पूर्ण या अभ्रान्त (सत्य) है, ऐसा नही कहा जा सकता। बुद्ध के परिनिर्वाण वर्ष में युवराज विजय ने सिंहल की यात्रा की थी, सिंहल वशावली मे यह लिपि-बद्ध है। यह युवराज विजय होता है—कलिग राजकन्या सुसीम का पुत्र।

नद वश

ई० पू० छठी शताब्दी से ई० पू० तीसरी शताब्दी तक उत्तर भारत मे राजवशो के परिवर्तन के लिए जो सघर्ष, विप्लव एव राजनैतिक आन्दोलन चला था, उसने समग्र भारत को प्रकम्पित कर दिया था। हर्यक्षकुल के राजा बिम्बसार के नेतृत्व से महापद्‌मनन्द के शासन तक उत्तर भारत मे इस राजनैतिक विकास के कारण छोटे-छोटे राज्य नष्ट होकर एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये थे। ठीक इसी समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर

आकामेनियान् साम्राज्य के नाम से एक पारसिक साम्राज्य ने भी सिर उठाया था। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के मध्य मे महापद्म नन्दराज उग्रसेन ने समस्त क्षत्रिय राजाओ को नष्ट कर एक सार्वभौम चक्रवर्तित्व के रूप मे अपने को प्रतिष्ठित किया था एव उत्तर और दक्षिण भारत दोनो पर उन्होंने अपना अधिकार किया था। शिशु नागवश के समसामयिक जितने भी क्षत्रिय राजा भारत मे थे, महापद्म ने उन सबको परास्त कर दिया था। कलिंग मे महाभारत युद्ध के बाद धारावाहिक रूप मे ३१ क्षत्रिय राजाओ ने शासन किया था। उनमे से अन्तिम नृपति को परास्त और निहत कर राजा के राजकीय वैभव के साथ 'कलिंग जिन' को भी विजय की स्मृतिस्वरूप नन्द राजा मगध मे ले गए थे। इससे ज्ञात होता है कि ई० पू० चतुर्थ शताब्दी मे कलिंग मे जैन धर्म प्रचलित था। अपने विजय-गौरव की घोषणा करने के लिए 'जिन मूर्ति' को ले गया था। इस से यह प्रतीत होता है कि स्वय नन्द भी जैन धर्मानुयायी था। इस प्रकार कलिंग नन्द वश के अन्तिम सम्राट् औग्रसेन्य (आग्रामम् या जाण्ड्रामस्) के शासनकाल तक नन्द वश के अधीन रहा था। ये अन्तिम सम्राट् प्राचीन विद्वानो की दृष्टि से प्रासि एव गगराडि दोनो राज्यो के शासक थे। पाश्चात्य विद्वान् म्कूआन्वेक् के मत से प्रासि शब्द के साथ भारतीय प्राच्य शब्द का इतना निकट सादृश्य है कि उसे प्राच्य या पूर्वांचल स्वीकार किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण एव महाभारत मे भी यह नाम इसी अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। गगराडि राजवश कलिंग राजवश की एक शाखा थी, इसमे कोई सन्देह नही है। मेगास्थनिज ने इसका उल्लेख 'गगारिडम् कलिंगारम् रजिआ' इस रूप मे किया है एव प्लिनी ने भी अपने इतिहास मे माको कलिंगि, गगाराडि कलिंगि और कलिंग के रूप में एक जाति का उल्लेख किया है। प्लिनी ने कलिंगि जाति को तीन जातियो में विभक्त किया है, किन्तु फिर भी उन्होंने सबके लिए एक भौगोलिक स्थिति और सीमारेखा निर्धारित की है, एव इन तीन राज्यो की राजधानी पार्थालिस नगरी थी, ऐसी सूचना दी है। उन्होने लिखा है कि यहा के राजा के एक हजार अश्वारोही, सात सौ गजारोही एव साठ

हजार पैदल सशस्त्र सेना विद्यमान थी। खैर, कुछ भी हो, किन्तु इतना असदिग्ध है कि कलिंग या वहा का गगाराडि विभाग नन्द वश के अन्तिम राजा की अधीनता मे था। प्लुटार्क की विवरणी को पढने से भी पता चलता है कि गगराडि और प्रासिआइ राजा अस्सी हजार अश्वारोही, आठ हजार रथ, छह हजार गजारोही और बीस हजार पैदल सेना लेकर नन्दराजा के पक्ष से अलेक्जैण्डर के आक्रमण को विफल करने के लिए प्रस्तुत हुए थे।

मौर्यवश—अशोक

दुर्दान्त नन्दवश का उच्छेद करने के लिए कौटिल्य एव चन्द्रगुप्त ने सशस्त्र विद्रोह कर पाटलिपुत्र पर जिस समय अधिकार किया उस समय कलिंग ने अपने को मगध की अधीनता से मुक्त और स्वाधीन कर लिया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त का शक्तिशाली साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वतमाला से पश्चिम में सौराष्ट्र एव दक्षिण मे मैसूर तक विस्तृत होने पर भी इसके बीच के निकटवर्ती पूर्वक्षेत्रो में कलिंग और गगराडि राज्य अन्तर्गत नही था। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में चक्रवर्ती प्रदेश का जो विवरण दिया है, उसमें कलिंग का समावेश नही हुआ है। इससे इतना अनुमान होता है कि, नन्द साम्राज्य के विलुप्त होने के पश्चात् मौर्यवश के महामहिम युग के समय भी कलिंग ने मगध की प्रधानता स्वीकार नही की थी। दूसरी दृष्टि मे कलिंग को महाशक्तिशाली समझकर चन्द्रगुप्त ने उस पर आक्रमण करने का साहस भी नही किया था।

सम्राट् अशोक ने अपने तेरहवें अनुशासन (शिलालेख) में कलिंग युद्ध का जो असीम वर्णन किया है, उसमें स्पष्ट लिखा है कि कलिंग पहले किसी के द्वारा विजित नही हुआ था। कम से कम इससे इतना स्वत सिद्ध होता है कि अशोक के पिता बिन्दुसार एव पितामह चन्द्रगुप्त के शासनकाल में कलिंग पूर्ण स्वतन्त्र राज्य था।

सुविशाल मगध साम्राज्य के साथ समकक्ष सिर उठाकर खडा रहा,

उसके मूल में जिस शक्ति, सामर्थ्य और वैभव की अपेक्षा होती है वह केवल गगा से गोदावरी तक की विशाल उपकूल भूमि के कारण अथवा कौटिल्य एव ग्रीक वीर डिओडोरस द्वारा शत-शत प्रशसित कलिग की गजारोही सेना के अप्रतिहत प्रभाव के कारण सभव हुआ था, ऐसा नही है। वास्तव में इस प्रकार की शक्तिशाली और सुदक्ष गजारोही सेना समग्र भारत में विरल थी, तथापि इसी सैन्यवल की उच्चता के कारण कलिग का एक प्रकाण्ड औपनिवेशिक साम्राज्य फिलिपाइन एव सुदूर प्राच्य द्वीप पुञ्ज में व्याप्त रहा था। जेरिनी एव विजय मजूमदार प्रमुख ऐतिहासिक विद्वानो के विचार से अशोक के अभ्युदय के वहुत पहले से ब्रह्मदेश में कलिग का एक औपनिवेशिक साम्राज्य प्रतिष्ठित हो गया था। इस प्रकार असीम धन-व्रज और जन-वल द्वारा समृद्ध होने के कारण परिवर्तनशील मगध साम्राज्य के प्रति वह सर्वदा लापरवाही रखता था। कलिग की शक्ति किस तरह सर्वग्रासी थी, उत्तरवर्ती समय में मगध पर आक्रमण कर खारवेल ने इसे प्रमाणित किया था।

डॉ० भण्डारकर ने ठीक कहा है कि अशोक के साम्राज्य को गगा से गोदावरी तक परिव्याप्त स्वाधीन सार्वभौम कलिग ने उत्तर-दक्षिण दो भागो में विभक्त करके रखा था। मगध के राजनीतिज्ञो के लिए कलिग की समृद्धि तथा भौगोलिक अवस्थिति की उपेक्षा करना सभव नही था। कलिग अभियान के मूल मे मगध की इस साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का ही दर्शन होता है।

विराट् मगध साम्राज्य की सैन्य वाहिनी मे वक्ट्रियार ग्रीको से लेकर आन्ध्र पुलिन्द और दूसरी विविध जातियो, धर्मो एव प्रदेशो के लोग थे। इस सेना की अध्यक्षता स्वय सम्राट् करते थे तथापि कलिग मगध-सम्राट् के लिए प्रवल काटा वना हुआ था। राखालदास वनर्जी का कहना है कि मगध-सेना ने उत्तर-दक्षिण दोनों तरफ से कलिग पर आक्रमण किया था, यह वहुत सभव है। यह भी सपूर्णतया सभव है कि सुदीर्घ उपकूलवर्ती साधारण प्रदेशो मे अनेक स्थानो पर प्रलयकारी युद्ध लडा गया हो। सुवर्ण

रेखा तट से कृष्ण नदी के तट तक सर्वत्र युद्ध लगा था एव देश की स्वतन्त्रता के लिए खून की नदिया प्रवाहित करके भी कलिग मेना ने युद्ध किया था। कलिग युद्ध किन-किन स्थानो पर कितने समय तक चला था और उसमे कलिग राजवश की स्थिति क्या रही थी, अशोक ने इसका कोई भी उल्लेख नही किया। किन्तु फिर भी युद्ध का भयावह वर्णन बहुत जीवन्त और मर्मस्पर्शी भाषा मे किया है। युद्ध मे डेढ लाख सैनिक वन्दी वने थे, एक लाख से अधिक मृत्यु को प्राप्त हुए थे एव इससे भी वहुत अधिक व्यक्ति युद्ध के वाद होने वाले दुर्भिक्ष और महामारी के कारण काल-कवलित हुए थे। अशोक के तेरहवें शिलालेख मे कृत वर्णन को पढते समय ऐसा लगता है कि हम कोई ऐतिहासिक घटना की वात नही पढते है, वल्कि एक महाकाव्य का जैसा वर्णन पढते हैं, वैसा पढ रहे हैं। अपनी स्वतन्त्रता को जीवन से अधिक महामूल्यवान समझ कलिग जाति-राष्ट्र हत्या, रक्तपात और विनाश के सम्मुखीन हुई थी। किन्तु हलाहल से अमृतोत्पन्न की जो वात है, वैसे ही विभीपिका की परिणतिस्वरूप अशोक के जिज्ञासु प्राणो मे पश्चात्ताप की तीव्र अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। गभीर दु ख और अनुताप के कसाघातो से उसने एक नया मार्ग खोज निकाला था। तेरहवें शिलालेख मे उन्होने स्पष्ट उल्लेख किया है कि कलिग विजय के पश्चात उनके मन मे धर्म और नैतिकता के अनुशीलन की प्रवृत्ति जागरूक हुई थी। वस्तुत कलिग युद्ध ने ही अशोक की जीवनधारा को परिवर्तित कर उन्हे वौद्ध धर्म की ओर प्रेरित किया था। अशोक ने अपने छोटे शिलालेख (Minor Rock Edict) मे प्रकट किया है कि वौद्ध दीक्षा ग्रहण करने के अढाई वर्ष लगभग धर्म की अभिवृद्धि के लिए वे सक्रिय नही हुए थे, किन्तु उसके वाद डेढ वर्ष हुआ वे धर्म-अभिवृद्धि के लिए सचेष्ट हुए हैं। यह छोटा शिलालेख अशोक के वारहवें वर्ष के शासनकाल मे स्थापित हुआ था, यह वात उनके छठे स्तम्भ-लेख से ज्ञात होती है। इस हिसाव से वे वौद्ध हुए थे अपने शासन के आठवे वर्ष मे और उसी वर्ष कलिग युद्ध हुआ था। इससे प्रमाणित होता है कि इस युद्ध की प्रतिक्रियास्वरूप उनके अन्त करण मे जो

अनुताप उत्पन्न हुआ था, उसके फलस्वरूप उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। कलिंग युद्ध के बाद चडाशोक धर्माशोक बन गए थे एव उसके बाद धार्मिक विजय के कार्य मे सलग्न हो गए थे। इसने ही उनके राजनैतिक जीवन मे विराट् परिवर्तन पैदा किया था। वस्तुत यह घटना भारत तथा विश्व-इतिहास मे एक अविस्मरणीय क्रान्तिकारी घटना है। इसकी परिणति हिंसात्मक युद्ध के बदले प्रेम-प्लुत आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतिष्ठा करने मे हुई। जेरेक्सेस्स अलेक्जैण्डर एव चन्द्रगुप्त की जिस भयावह दिग्विजय ने विश्व को विक्षुब्ध किया था उसके बदले मे शान्ति एव मित्रता का राज्य प्रतिष्ठित हुआ था। युद्ध का अन्तिम परिणाम कलिंग के लिए सुखद नही रहा। फलस्वरूप वह मौर्य साम्राज्य का एक अग हो गया और उसका शासन वहीं के राजवश के एक राजपुत्र ने प्रतिनिधि के रूप मे किया। तोपाली राजधानी हुई थी। कलिंग की पराजय मे अशोक का अनुताप बहुत तीव्र हो गया था किन्तु फिर भी उसने कलिंग को स्वतन्त्र नही रहने दिया था। कलिंग सदृश दुधर्ष स्वदेश-प्रेमी और स्वाधीनता-प्रिय जाति को अपने अधीन न कर यदि स्वतन्त्र मित्रराष्ट्र के रूप मे रखा होता तो शायद बहुत अच्छा होता। कलिंग के निवासियो द्वारा मगध की अधीनता बाध्यतावश स्वीकार कर लेने पर भी उनके हृदय मे एक प्रच्छन्न असन्तोष उन्हें उभार रहा हो, तो कोई अस्वाभाविक नही है। अशोक ने यह बात नही समझी हो, ऐसा भी नही है। यह मानकर ही उसने इस क्षति और उसकी स्मृति को धो डालने के लिए सब प्रकार से प्रयत्न किया था। अतएव यह जाना जाता है कि उसने अपने तेरहवें अनुशासन को कलिंग की सीमा मे स्थापित नही किया था। उसने सोचा होगा कि ऐसा करने से पराजय का कलक और नृशस विभीषिका कलिंगवासियो के मन मे जागृत रहेगी। डॉ० भडारकर कहते हैं कि अशोक ने अनुताप के तीव्रानल से दग्ध होकर समस्त स्मृति को पोछने के लिए कलिंग के बाहर तेरहवें अनुशासन को प्रतिष्ठित किया था। लेकिन यह बात यथार्थ नही है। धार्मिक कारण की अपेक्षा इसके मूल मे राजनैतिक कारण के लिए उन्होंने दो स्वतन्त्र शिलालेख कलिंग के लिए

स्थापित कर उनमे कलिंग एव आदिवासी जातियो के साथ प्रीति और मैत्री की स्थापना के लिए हार्दिक आग्रह प्रकट किया था। ये दोनो जाति किस प्रकार कानून के अनुसार अनुशासित रहेगी एव समस्त दु ख-दारिद्रय और आतक से सुरक्षित रहेगी, राजकर्मचारी वर्ग प्रजा पर किस तरह अन्याय और अत्याचार नही करेंगे एव करने से उसका क्या परिणाम होगा उक्त दोनो शिलालेखो मे इस बात की सूचना दी थी। सुशासन की प्रतिष्ठा कर जन-साधारण की सर्वतोभावेन रक्षा करना अशोक की शासन-नीति का मूल मन्त्र था। यह ठीक प्रजा के प्रति पितृ-सदृश व्यवहार था। इस दृष्टि से अशोक ने कलिंग-शासनतन्त्र का बहुत प्रयत्नपूर्वक सपूर्ण सशोधन किया था एव समस्त प्रभु-सत्ता अपने हाथ मे रखकर आवश्यकता होने पर वैसा वे प्रयोग करते थे। उज्जयिनी और तक्षशिला के जो राजपुत्र राजप्रतिनिधि के रूप मे काम करते थे, उनको जिस तरह सपूर्ण सत्ता सौपी हुई थी, वैसी सत्ता कलिग के राजप्रतिनिधि को नही दी गयी थी। उज्जयिनी और तक्षशिला के राजप्रतिनिधि अपने-अपने महामात्रो (प्रधान सचिवो) को स्वय के राज्यो का परिदर्शन करने के लिए प्रत्येक तीसरे वर्ष एक बार दस्तावेज भेजते थे, किन्तु कलिग के राजप्रतिनिधि महामात्य को इस प्रकार गश्त करने के लिए नही भेज सकते थे। वह शक्ति स्वय सम्राट् के इच्छाधीन थी। स्वतन्त्र कलिग आदेशो मे उज्जयिनी और तक्षशिला के राजप्रतिनिधि स्वतन्त्र रूप से उल्लेखित है, लेकिन कलिग के राजप्रतिनिधि की सूचना उनके गौण मन्त्रियो के साथ है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कलिग के राजप्रतिनिधि की शक्ति सीमित थी। उज्जयिनी और तक्षशिला के राजप्रतिनिधियो को जिस प्रकार एकाएक सर्वोच्च क्षमता सौपी गयी थी, उस तरह की क्षमता सपार्षद कलिग राजप्रतिनिधि को नही थी। कलिग का आभ्यन्तरिक शासन-कार्य सम्राट् स्वय प्रत्यक्ष रूप से सचालित करते थे, इसका उदाहरण मिलता है। अशोक ने अपने प्रथम अनुशासन (राजाज्ञा) मे नगरनियोहालक एव अन्य उच्च राजकर्मचारियो के प्रति विविध आज्ञा एव दण्डविधान की व्यवस्था प्रचारित की थी। यह बात

उन्होंने सपार्षद कलिग राजप्रतिनिधि के माध्यम से नही की थी। यह प्रदेश नूतन अधिकृत था। सत्ता के मद से राजकर्मचारी वर्ग एव नगर के न्यायाधीश वग किसी का आकस्मिक बन्धन करे, कष्ट दे, अथवा जेल भेजे तो उनके लिए दण्ड विधान करना सम्राट् का एक आवश्यक कर्तव्य है, ऐसा स्वीकृत हो गया था। अशोक एक विचक्षण एव उन्नत राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने अपने अनुशासन (शिलालेख) स्तम्भो पर दण्डनीति के प्रमुख नियमो की व्याख्या कर, वहा के नियुक्त कर्मचारी क्या-क्या कार्य करेंगे, और क्या-क्या करना उचित नही है, इसे समझा दिया था। इस प्रकार की व्यवस्था के अनुसार कार्य सपादित करने से अच्छा शासक होना सहज साध्य है। कर्मचारी वर्ग को निर्दय नही होना चाहिए। उन्हे अच्छे काम करने, दया-दाक्षिण्य सम्पन्न, सत्यवादी, नीति-परायण, विनयी, शान्त और शिष्ट होने का उन्होने परामर्श दिया था। इन समग्र सद्गुणो से लोगो का गौरव बढ़ता है। इनके विरोधी राग, गर्व, विद्वेष, निष्ठुरता, निर्दयता, - अत्याचार, क्रोध आदि के दुष्परिणामो को भी उन्होने समझा दिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि कलिग मे राजधर्म, नीति-नियम के पालन के विषय मे अशोक बहुत अधिक सजग थे। इसमे जितनी राजनैतिक पवित्रता की गन्ध थी वही राजधर्म की नीति थी, बौद्ध धम की उपासना एव नीति-नियम उतने नही थे।

चेतिवश—खारवेल

अशोक के बाद कलिग की राजनैतिक परिस्थिति का निश्चित बोध नही होता है, तथापि खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख से इतनी सूचना मिलती है कि मौर्यों का प्राधान्य न्यून होने के पश्चात् कलिग ने चेतिवश या किसी नूतन महामेघवाहन राजवश के नेतृत्व मे अपने स्वातन्त्र्य की घोषणा कर दी थी। खारवेल इसी वश के तृतीय राजा होते हैं एव उनका शासनकाल होता है ई० पू० प्रथम शताब्दी का कोई समय। भारतीय इतिहास मे खारवेल एक सम्राट् के रूप मे उद्घोषित हुए है।

जैन धर्मानुयायी होने पर भी वे विराट् सैन्य-समूह को लेकर समग्र भारत पर अभियान करने के लिए कुण्ठित नही हुए थे एव उनके स्वल्प-कालीन शासनकाल मे कलिंग भारत मे अप्रतिहत चक्रवाहन बलशाली साम्राज्य मे परिणत हो गया था। राज्याभिषेक के उत्तरवर्ती वर्ष मे सात-वाहन वशीय सप्तकर्णी को परास्त किया था एव आसिक नगर या मूषिक राज्य के लोगो के हृदय मे प्रकम्पन उत्पन्न कर दिया था। यह राज्य दक्षिण मे कृष्णा नदी के तट पर विद्यमान था। शासन के चौथे वर्ष मे उन्होने अपनी विजय-वाहिनी को लेकर पश्चिम दिशा मे अभियान कर राष्ट्रीय एव भोजको को अपने अधीनस्थ किया था। बहुत सभव है कि उनका उद्देश्य अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लेना था। इसलिए शासन के आठवे वर्ष मे मगध सेना का निवासस्थल गोरधगिरि दुर्ग को ध्वस कर राजगृह अधि-वासियो को विविध कदर्थना दी थी। किन्तु इस बार मथुरा की ओर एक यवन राजा को वापस खदेडने के लिए उन्हे बाध्य होना पडा था। इसलिए वे राजधानी पाटलिपुत्र पर आक्रमण नही कर सके थे। इसके बाद तीन वर्षो तक उत्तर भारत पर रण अभियान स्थगित कर उन्होने दक्षिण की ओर दृष्टि-विक्षेप किया था।

शासन के ग्यारहवें वर्ष मे उन्होने पिथुण्ड नगर को ध्वस कर वहा की गर्दभ चालित उपजाऊ भूमि को तहस-नहस कर दिया था। इस नगरी मे तमिल सामन्त (शक्तिशाली सरदार) शासन करते थे। पाड्य राजा के नेतृत्व मे वे उनके सम्मुखीन हुए थे। इस प्रकार दक्षिण प्रदेशो पर अपना प्रभुत्व सुप्रतिष्ठित कर शासन के बारहवे वर्ष मे विराट् सैन्य-वाहिनी को लेकर उत्तर भारत की ओर उन्होने अभियान किया था। गगा नदी पर अपने हाथियो को जलपान कराया था। इस सवाद को सुनकर मगध के निवासियो के प्राण मुट्ठी मे आ गए थे, अर्थात् उनके हृदय मे आतक उत्पन्न कर दिया था। अन्त मे मगध के राजा बृहस्पति मित्र की पदोन्नति हुई थी। उस विजय के फलस्वरूप नन्दराजा कलिंग से जिस 'जिनासन' जिन मूर्ति को ले गए थे उसे पुन ले आए थे एव उसके साथ अग और मगध

से अमाप्य धन-रत्न और पुस्तकें लाए थे।

इस प्रकार जैन धर्म का समर्थन करते हुए भी खारवेल ने ब्राह्मण-धर्मी राजाओ के समान दिग्विजय-नीति का सहारा लेकर कलिंग के जन-साधारणो के हृदय मे वीरत्व एव युद्ध-लालसा को जागृत किया था। जैन धर्म का सिद्धान्त है—आकिंचन्य का वरण करना, लेकिन खारवेल पूणतया इस नीति का अनुसरण न कर अग और मगध से विपुल धन-रत्न और पुस्तकें लेकर आए थे। उससे पहले उन्होंने पाड्य राज्य से विपुल मात्रा मे मणि-मुक्ता, हीरे, नीलम, बहुमूल्य वस्त्र, अलकार लेकर अपने कोषागार को भरा था। इसके अतिरिक्त विद्याधरो के देशो से भी अमूल्य सपत्ति लेकर आए थे। खारवेल और मौर्य सम्राट् अशोक के बीच इस सम्बन्ध मे बहुत तारतम्य है। कारण, अशोक युद्ध का परित्याग कर विजित राज्यो से कभी भी धन-रत्न लूटकर नही लाए थे। इन दोनो राजाओ की सामाजिक, धर्मनीति मे भी विविध वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। अशोक ने अपने साम्राज्य मे आनन्दप्रद उत्सवो के अनुष्ठान, मेले, महोत्सव आदि का बहिष्कार किया था, किन्तु खारवेल इससे उलटे थे। वे नृत्य-गीत, खेल-तमाशो, आमोद-प्रमोद, आटोप-आडम्बर आदि से अपनी प्रजा को प्रमुदित करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहते थे। अशोक अनाडम्बरता (सादगी और सरलता) मे निष्ठावान थे, इसलिए उन्होंने उसमे जैसी ख्याति अर्जित की थी, खारवेल उससे उलटे कार्यों (आडम्बर) द्वारा प्रसिद्ध हो गए थे। उदाहरण-स्वरूप उनके शासन के सातवें वर्ष मे अनुष्ठित उत्सव का उल्लेख किया जा सकता है। उस वर्ष उन्होंने सौ से अधिक प्रकार के साज-सज्जापूर्ण सेना-द्वारा तलवार-खेल, छत्र-चामर, बडे-बडे पखे, पताका, रथ, घोडे, हाथी एव पैदल सेना द्वारा अभूतपूर्व महोत्सव का आयोजन कर अपने विजयोत्सव की घोषणा की थी। यह उत्सव अनेक दिनो तक चला था एव इसके लिए लाखो मुद्राए खर्च कर उत्सव को सर्वाग सुन्दर बनाया था। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनो त्याग पर प्रतिष्ठित हैं। दोनो धर्मों मे वैषयिक सुख एव वैभव-वासना का परित्याग है। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी और खारवेल जैन

धर्मावलम्बी सम्राट् होकर भी उनकी धर्म (सम्प्रदाय)-निरपेक्षता एव दूसरे धर्म-सम्प्रदायो के प्रति उदार भावना इतिहास मे प्रसिद्ध है। फलस्वरूप अशोक की यह सहिष्णुता और दूसरे धर्मों के प्रति विद्वेष-शून्यता एक सुनिश्चित नीति के अनुसार स्वीकृत हुई थी। अशोक यह कामना करते थे और इस प्रकार के कार्यों मे बहुत उत्साहित करते थे कि भिन्न-भिन्न गोष्ठिया या समाज के अन्तर्गत विभिन्न मत के लोग अपने-अपने मे स्वतत्र रूप से विचार और आलोचना कर एक-दूसरे के प्रति मैत्री-भाव से युक्त हो। अशोक ने सबको यह परामर्श दिया था कि वाणी का सयम कर दूसरे धर्मो के प्रति श्रद्धा का भाव रखें। यह बात उनके शिलालेखो या अनुशासनो मे उत्कीर्ण है। खारवेल की उदार धर्मनीति इस प्रकार किसी सुनिश्चित कर्म-मार्ग पर प्रतिष्ठित नही थी। वस्तुत वे दूसरे धर्मो मे हस्तक्षेप नही करते थे, बल्कि जैन मन्दिरो की तरह हिन्दू और बौद्धो के देव-मन्दिरो या पूजा-स्थलो की वे सुरक्षा करने के लिए प्रस्तुत थे एव सभी धर्मों के वे समान भक्त थे। दोनो सम्राटो की धर्म-निरपेक्षता मे विभेद होना आश्चर्य-जनक नही है। अशोक जन्म से बौद्ध नही थे, किन्तु वे बहुत अशो मे ब्राह्मण धर्म के प्रति अनुरक्त थे। कलिंग-विजय के पश्चात् जिघासा वृत्ति के प्रति घृणा उत्पन्न होने के कारण उन्होने भगवान बुद्ध के प्रचलित धर्म की दीक्षा आचार्य उपगुप्त से स्वीकार की थी। इसके अतिरिक्त खारवेल का जन्म जैन राजवश मे हुआ था। उन्होने किसी दूसरे धर्म को स्वीकार नही किया था। सम्राटत्व की दृष्टि से एक राजा के लिए जितनी उदारता बरतनी चाहिए, वे उससे आगे न बढकर सहिष्णु बने थे। इसलिए दोनो सम्राटो के धार्मिक विचारो मे जो वैषम्य दृष्टिगत होता है उसके मूल मे पूर्वोक्त कारण ही विद्यमान है।

खारवेल ने सम्राट् अशोक की तरह धर्म के प्रति अत्यधिक आग्रह और गुरुत्व प्रदर्शित न करने पर भी यह निसन्देह है कि वे जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे एव उनके शासनकाल मे जैन धर्म ने कलिंग मे सर्वश्रेष्ठ उन्नति अर्जित की थी। उन्होने मगध राजा के हस्तगत कलिंग जिन की पाषाण मूर्ति

का उद्धार कर अपनी राजधानी में ससम्मान प्रतिष्ठा की थी एव कलिंग के अधिवासी और राजवश ने उक्त 'जिनासन' जिन-मूर्ति के प्रति भक्ति-पूजा और राजकीय सम्मान प्रदर्शित किया था। यवन राजा का पीछा कर खारवेल ने मथुरा पर विजय की थी, वहा से पत्र-पुष्प शोभित कल्पवृक्ष को एक विराट् और विजयी महोत्सव के साथ अपनी राजधानी मे लेकर आए थे। जैन यति, साधु-सन्यासियो की तथा गृहस्थो की वे स्वदेश और वाहर सवत्र प्रचुर खाद्य-पेय द्वारा परिचर्या करते थे। अन्त मे उन्होने जैन श्रमणो के विश्रामस्थल के रूप मे अनेक गुफाओ का निर्माण कराया था। उनकी रानी, राजपुत्र, भाई, वहन, योग्य मन्त्री तथा दूसरे कर्मचारियो ने भी अनेक गुफाए वनवाई थी। खडगिरि और उदयगिरि पर्वत पर ये सव गुफाए आज तक ध्वसावशेष के रूप मे विद्यमान हैं। इन गुफाओ मे से कई एक गुफाओ मे वे स्वय सामान्यतया अपनी रानी के साथ निवास कर, जैन धम-सम्मत साधना करते थे। राणी हसपुर नाम की दो तल्ले की गुफा का भग्नावशेष अब तक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रहा हुआ है।

खारवेल का आकस्मिक अभ्युदय और गौरवपूर्ण उज्ज्वल शासन सिर्फ चौदह वप के भीतर समाप्त हो गया था। इतने स्वल्पकालीन शासन-काल के दौरान भारत के किसी जनपद के राजा खारवेल की तरह दिग्विजयी सम्राट् नहीं हो सके थे। किवदन्ती एव भापा के ध्वनि सादृश्य से भी सूचित होता है कि खारवेल ने पश्चिम समुद्र के तटवर्ती प्रदेश गुजरात राज्य पर विजय कर उसमे एक तालाव खुदवाने के लिए कलिंग के हजारो श्रमिक नर-नारियो को भिजवाया था। इस तरह एक श्रमिक तरुणी के साथ वहा के राजा के कथोपकथन को लेकर जो प्रणय-काव्य रचा गया है वह गुजराती भापा का आदि-काव्य है। चौदह वर्ष के शासन के वाद खारवेल के सम्वन्ध मे और कोई विवरण जानकारी मे नही आया है ऐसा लगता है। सम्भवत इतनी अवधि के वाद उनका स्वर्गवास हो गया था, नही तो जैन धर्म मे वैराग्य भाव से आप्लावित होकर श्रमण बन गए थे, और राजनीति से विदा लेकर गुप्त, अनाशस और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया

था। खारवेल के वाद कलिंग का गौरव-रवि ज्योतिहीन हो गया हो, यह बात सहज अनुमानगम्य है। खारवेल का शासनकाल ही कलिंग इतिहास मे स्वर्णयुग था। खारवेल के पश्चात् कुडेपशिरी नाम के किसी एक राजा ने कलिग राजसिहामन को सुशोभित किया था, यह वात मचपुरी के तीसरे-चौथे दरवाजे के मध्य मे स्थित एक वेदी पर अकित है। इन्ही राजा ने अपने को कलिग अधिपति ऐर महाराजा महामेघवाहन पदवी से मडित कर शिलालेख खुदवाया था। कोई-कोई ऐतिहासिक यहा तक कि हमारे उडीसा इतिहासवेत्ता डॉ० हरेकृष्ण महताव ने निश्चित किया है कि खारवेल वश की समाप्ति के वाद कलिग आन्ध्र सातवाहन के नेतृत्व मे चला गया था। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के विपक्ष मे अनेक तर्क रहे हैं। आन्ध्र राजा सातवाहन वश प्रवल पराक्रमशाली होने पर भी वह सातकर्णी की रानी नयनिका के समय से वहुलाश मे क्षुण्ण हो गया था। ये सातकर्णी थे खारवेल के समसामयिक। इसलिए यह सभव नही था कि आन्ध्र सातवाहन राजवश कलिग पर आक्रमण करे। इस राजवश की अधीनता मे किसी समय महाराष्ट्र राज्य था, फिर वह स्वाधीन हो गया। सातवाहन वश महाराष्ट्र को १३० ई० तक अपने अधिकार मे नही रख सका था। इसके वाद नासिक की किसी गुफा से जिस शिलालेख का पाठोद्धार किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि १३० ई० मे गौतमी पुत्र सातकर्णी ने महाराष्ट्र पर विजय की थी। इतिहास की अवस्था वर्तमान जिस स्तर पर है उससे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि कुडेपशिरी के वाद कौन या किस-किसने कलिग राजसिहासन को अलकृत किया था। उदयगिरि पर ब्राह्मी भाषा मे दो छोटे शिलालेख देखने को मिलते हैं। उनसे पता चलता है कि कुमार भदूख या भारिश नाम का राजा कुडेपशिरी के वाद हुआ था। किन्तु यह कथन सन्देहमूलक है। ई० प्रथम शताब्दी मे किस देश के राजा कलिग मे शासन करते थे इस सम्बन्ध मे प्राचीन तमिल साहित्य मे वहुल वर्णन उपलब्ध होता है। 'शिलप्पदिकार' एव 'मणिमेखलाइ' नामक दो तमिल काव्यो मे कलिग के दो राज्यो मे दो निकट आत्मीय राजाओ मे

भ्रातृविरोध और युद्ध हुआ था, यह विषय वर्णित है। दोनो भाइयो मे से एक की राजधानी कपिलपुर थी और दूसरे की सिंहपुर। तमिल ऐतिहासिक डॉ० एस० के० अय्यगर कहते है कि इन दोनो भाइयो ने खारवेल के तिरोधान के थोडे समय बाद शासन किया था। इस भ्रातृ-युद्ध के फल-स्वरूप देश मे—समग्र कलिंग देश मे एक भयावह दुर्भिक्ष पडा था जिसने देश को मटियामेट कर दिया था और दुर्भिक्ष की करालता के भोग लोग अनेक शताब्दियो तक बने थे। देश की राज्यशक्ति की शक्तिहीनता का कारण यही हुआ। इसी के फलस्वरूप ई० दूसरी शताब्दी मे वैदेशिक शक्ति को कलिंग पर आक्रमण करने की सुविधा मिल गई।

ई० दूसरे शतक मे प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार टेलोमि ने कलिंग मे आकर कोणार्क के सूर्य मन्दिर और बौद्ध विहारो का दर्शन किया था। इसलिए उस समय तक कलिंग मे धर्म-निरपेक्षता समान रूप से चल रही थी, जिससे कलिंग राजशक्ति का प्रभाव विशेष कम नही हुआ था, यह स्वीकार करना होगा। ई० द्वितीय शताब्दी मे जिन्होंने कलिंग पर आक्रमण किया था, वे होते हैं—मरुण्ड। यह सिदिआन् जाति की एक शाखा है।[1]

---

१ यह निबन्ध डॉ० नवीनकुमार साहू के सौजन्य से मिला है।

३

चित्रसेन-पद्मावती चरित्र

चित्रसेन और पद्मावती चरित्र मे जैन धर्म के शील, दया, धर्म, तपस्या, विशुद्ध भावना आदि का वर्णन विशद रूप से हुआ है।

गल्प

कलिंग देश मे वसन्तपुर नाम से एक प्रमुख स्थान था। वहा पर वीर-सेन नाम के एक विख्यात राजा राज्य करते थे। उनके रत्नमाला नाम की रानी थी। उनके एक पुत्र था जिसका नाम चित्रसेन था। राजा वीरसेन के एक मन्त्री था। उसके एक पुत्र था। पुत्र का नाम रत्नसार था। वह चित्रसेन का परम मित्र था। दोनो मित्र एक साथ नगर मे भ्रमण करते थे। इनकी शरीर-रचना बहुत आकर्षक थी। चित्रसेन और रत्नसार के रूप-लावण्य पर नगर की स्त्रिया मुग्ध हो जाती थी। वे दोनो मित्रो के प्रति आकृष्ट होकर सतृष्ण नयनो से सर्वदा निहारती रहती थी।

नगर के बुजुर्ग लोग इस घटना से बहुत अधिक क्षुब्ध हो गए। उन्हे यह कार्य अच्छा नही लगा। फलस्वरूप राजा के निकट इस बात की शिकायत की कि ये दोनो युवक नगर की युवतियो को खराब दृष्टि से देखते हैं। यह सुनकर राजा ने अपने पुत्र को निर्वासन का आदेश दे दिया। चित्रसेन के निर्वासित होने की घटना को सुन मित्र रत्नसार भी उसके

साथ चला गया। माता रत्नमाला पुत्र के प्रति अनुरक्त थी। उसने वात्सल्य और ममतावश उसे साथ मे ले जाने के लिए सात रत्न दिए।

दोनो मित्र घूमते-घूमते गहन जगल मे चले गए। वहा पर एक वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। इसी समय सूर्यास्त हो गया। राजपुत्र पथ की थकान से क्लान्त होकर सो गया था, सोते ही उसे नीद आ गई। रत्नसार जागता रहा।

मध्यरात्रि मे दूर से अकस्मात् एक कोलाहल सुनाई दिया। किन्नर और किन्नरिया वहा पर आमोद-उत्सव कर रही थी। रत्नसार ने यह जानकर राजपुत्र को उठाया और दोनो उस ओर चल पडे।

सामने उन्हे एक जैन मन्दिर दृष्टिगोचर हुआ। किन्नर और देवता वहा पर सानन्द अष्टाह्निक उत्सव मना रहे थे।

चित्रसेन वही पर एक प्रस्तर मे उत्कीर्ण बालिका की मूर्ति को देखकर मुग्ध हो गया। कुछ ही क्षणो के बाद वह मूर्च्छित होकर गिर पडा। रत्नसार ने शीतलोपचार से उसे स्वस्थ किया। सज्ञा-चेतना पाकर उसने उस बालिका के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की और कहा—यदि यह न मिली तो मैं आत्महत्या कर शरीर छोड दूगा। यह प्रतिज्ञा भी कर ली। रत्नसार ने उस समय मित्र को समझाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह उसे समझा नही सका।

एक साधु उस मार्ग से जा रहे थे। उन्होने वहा पर विश्राम किया। रत्नसार से इस विषय की सम्पूर्ण जानकारी कर वे इस प्रकार कहने लगे—

रत्नपुर मे पद्मरथ नामक राजा शासन करते थे। उनकी पत्नी का नाम पद्मश्री था। रानी ने एक पुत्री को जन्म दिया। राजा ने उसका नाम पद्मावती रखा।

पद्मावती वयस्क-युवा हो गई। राजा ने उसके लिए योग्य वर की खोज की। किन्तु पद्मावती का पुरुष के प्रति प्रेम नही था, वह सबसे घृणा करती थी।

एक दिन शान्तिनाथ मन्दिर मे पद्मावती को एक कारीगर (शिल्पी) ने देखा था। वह कारीगर सगर था। सगर तीर्थयात्रा के लिए यहा आया था। जिस समय सगर ने यह जाना कि यह अनिन्द्य सुन्दरी पुरुषो से घृणा करती है, वह वडा दु खित हुआ। उसने उसकी एक मूर्ति का निर्माण किया। चित्रसेन ने जिस मूर्ति को देखा है, वह उसी की मूर्ति है।

चित्रसेन इस वात को सुनते ही पुन मूर्च्छित हो गया। उस समय साधु चित्रसेन के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाने लगे—

चम्पक अरण्य मे एक तालाव है। उसमे हस और हसनी का एक युगल रहता था। एक वार एक सौदागर ने आकर उस तालाव के निकट विश्राम किया। स्नान करने के पश्चात उसने जिन देवताओ की पूजा की एव खाद्य प्रस्तुत किया। भोजन करने के लिए वैठने से पूर्व अपने साथ भोजन करने के लिए वह एक अतिथि को खोज रहा था।

इसी समय मासोपवासी (एक माह के निराहारी और निर्जल) एक मुनि उसी मार्ग से आ गये। सौदागर वहुत अधिक प्रसन्न हुआ। उसने साधु को भक्तिपूर्वक भोजन दिया। हस युगल ने यह देखकर उसकी वहुत प्रशसा की।

कुछ समय के वाद हस युगल के वच्चे हुए। एक दिन दुर्भाग्यवश वन मे आग लग गई। हस पानी लाने के लिए उड गया। जल लेकर आने से पूर्व ही सभी वच्चे आग मे जलकर मर गए। हसनी को अपने स्वामी हस पर सन्देह हो गया कि वह कही दूसरी जगह जाकर किसी और के साथ रह जाएगा। हस के प्रेम पर इस प्रकार सन्देह कर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि दूसरी वार वह पुरुष का मुह नही देखेगी। हस ने वापस लौटकर देखा तो सव कुछ शेष था। अपनी सन्तान अग्नि मे जल गई देख हस ने भी तत्क्षण वही पर प्राण छोड दिया। हस और हसनी उन दोनो ने इस जन्म मे चित्रसेन और पद्मावती के रूप मे जन्म ग्रहण किया है। कारण, उन दोनो ने उस सौदागर के दया-दान की प्रशसा की थी।

साधु से विदा लेकर दोनो रत्नपुर आ गए एव वहा पर नगर के वाहर

विद्यमान यक्ष धनजय के मन्दिर मे दोनो ने रात व्यतीत की। रात्रि मे उन्होंने वहा पर भूत, प्रेत, वैताल, राक्षस और किन्नरियो को देखा। राजकुमार की निद्रा टूट गई। भूत-प्रेतो ने राजकुमार का आतिथ्य-सत्कार किया। धनजय ने भी राजपुत्र को आशीर्वाद दिया कि वह युद्धभूमि मे सर्वदा विजयी होगा।

प्रभात होने पर दोनो ने नगर मे प्रवेश किया। नगर मे इस घोषणा को सुना कि पद्मावती को उसकी पुरुष-घृणा से जो मुक्त करेगा, उसे पद्मावती दी जाएगी और उसके साथ-साथ आधा राज्य भी दिया जाएगा।

चित्रसेन ने अपने पूर्वजन्म के हस और हसनी युगल का मरणकालीन एक मनोरम चित्र तैयार किया। इस चित्र को देखकर सबने प्रशसा की। पद्मावती ने जब इस चित्र को देखा तो उसे पूर्वजन्म की घटना का स्मरण हो गया। वह मूर्च्छित होकर गिर पडी। उस समय पुरुष के प्रति उसे घृणा क्यो है, इसका कारण समझ मे आ गया। उसे सचेत किया गया। इसी समय राजपुत्र वह स्थान छोडकर अन्यत्र चला गया। अब पद्मावती विरह-दु ख से दुखित हो गई।

उसके बाद पिता ने पद्मावती के पास विवाह का प्रस्ताव रखा। पद्मावती ने उसे स्वीकार कर लिया। एक शुभ दिन देखकर राजा ने स्वयवर रचा। विवाह के लिए अनेक देशो के राजपुत्र आये थे। राजपुत्रो के यथायोग्य आसन पर उपविष्ट होने के बाद पद्मावती आयी। राजा ने कहा—आप मे से जो भी मेरे पैतृक धनुष वज्रसार को नमा सकेगा, वही मेरी कन्या के साथ पाणिग्रहण करेगा।

लाट, कर्णाट, कश्मीर, अग आदि देशो से आनेवाले राजपुत्रो ने अपने-अपने भाग्य की परीक्षा की, किन्तु वे सफल नही हुए। पद्मावती बहुत विषण्ण हो रही थी। इसी समय चित्रसेन अपने मित्र रत्नसार के साथ वहा आकर उपस्थित हुआ। चित्रसेन विजयी हुआ। पद्मावती ने सानन्द उसके गले मे वरमाला पहनाई। अन्यान्य राजपुत्रो ने इस अज्ञात-कुलशील युवक के विरुद्ध शस्त्र सभाल लिए। चित्रसेन ने एकाकी होकर भी अन्त मे

सबको पराजित कर दिया। वह विजयी हुआ। इसी समय एक स्तुति-पाठक ने उच्च स्वर से घोषणा की कि यह युवक चित्रसेन है। वसन्तपुर के राजा वीरसेन का पुत्र है। यह सुनकर सभी राजकुमार स्तम्भित हो गए। उसके बाद बहुत आनन्दपूर्वक विवाहोत्सव मनाया गया।

कुछ दिनो के बाद चित्रसेन अपनी पत्नी और मित्र के साथ पुन अपने देश लौट आए। पथ मे एक वरगद के मूल मे विश्राम किया। चित्रसेन और उसकी पत्नी वही पर सो गए। उन्हे निद्रा आ गई। रत्नसार जाग रहा था। उस समय उसे यह कथोपकथन सुनने को मिला—

इस वटवृक्ष पर एक गोमुख और उसकी स्त्री चक्रेश्वरी निवास करते थे। चक्रेश्वरी ने अपने स्वामी से पूछा—यह राजपुत्र कौन है ? यह कहा जा रहा है ? गोमुख ने उत्तर दिया—यह वीरसेन राजा का पुत्र है। वीरसेन की प्रथम पत्नी के मर जाने के बाद उसने विमला के साथ विवाह किया है। विमला अपने पुत्र को राजपद देने के लिए चित्रसेन को मारने की चेष्टा करेगी। वह विष का भी प्रयोग करेगी। किन्तु यथासमय चित्रसेन का मित्र रत्नसार विष-मिश्रित खाद्य को परिवर्तित कर देगा। शत-प्रतिशत यह सब घटना घटी एव चित्रसेन समस्त विपत्तियो से मुक्त हुआ।

एक दिन वसन्तपुर मे भगवान महावीर का आगमन हुआ। वीरसेन भगवान महावीर के निकट धर्मोपदेश सुनने के लिए गए। धर्मोपदेश सुनने के बाद वीरसेन अपने पुत्र चित्रसेन को राज्य-सिंहासन पर स्थापित कर स्वय दीक्षित श्रमण बन गये। रानी विमला भी साध्वी बन गयी।

चित्रसेन बहुत व्यवस्थित ढग से शासन करने लगे। उनका मित्र रत्नसार भी खूब सतर्क रहता था। एक दिन एक काल-सर्प चित्रसेन के पलग पर चढने लगा, राजा और रानी दोनो उस समय निद्रित थे। रत्नसार ने तलवार से उस काल-सर्प के दो टुकडे कर दिए। रक्त-बिन्दु रानी के पैर पर लग गया। जिस समय वह उसे पोछ रहा था, उस समय राजा अकस्मात् उठ गया। उसने देखा, रत्नसार वहा पर खडा है। राजा ने यहा आने का कारण पूछा। रत्नसार ने सोचा कि वह प्रस्तर मे परिवर्तित हो

जायगा। उसने उस वृक्ष पर विद्यमान गोमुख यक्ष की भविष्यवाणी सुनी थी। किन्तु फिर भी सत्य कहने मे वह किंचित्मात्र भी विचलित नही हुआ। सत्य वात कहते-कहते गोमुख की भविष्यवाणी सफल हो गई। वह पत्थरमय हो गया। राजा इससे अत्यन्त व्यथित हुआ। वह स्वय आत्महत्या करने को तत्पर हो गया। पद्मावती ने कहा—"ऐसा करने से क्या होगा ? भीरु व्यक्ति ही विपत्ति के समय आत्महत्या करते है। विद्वान् और विज्ञ व्यक्ति दूसरे उपायो का अवलम्बन लेते हैं। आप दान, ध्यान और साधुओ की सेवा करो। इससे सव अच्छा होगा।" राजा मान गया और उसने वैसा ही किया। राजा दान, ध्यान इत्यादि मे समय और धन का विनियोग करने लगा। जिस यक्ष ने यह वात कही थी, सभवत वही रत्नसार को फिर जीवित कर सके। यक्ष से यह पता चला कि यदि कोई साध्वी स्त्री अपने पुत्र (सन्तान) को गोद मे लेकर उस पत्थर का चारो ओर से स्पर्श करेगी तव रत्नसार फिर जीवित हो उठेगा।

वर्तमान पद्मावती गर्भवती है। जैन मन्दिर शख, घटा-ध्वनि मे मुखरित हो रहा है। दरिद्रों को भोजन, दान, ध्यान आदि कार्य चल रहे हैं। इसी समय रानी ने एक कुमार को जन्म दिया। तथाविध जातिकर्म सम्पन्न करके वच्चे का नाम धर्मदेव रखा गया। पद्मावती ने धर्मदेव को गोद मे लेकर रत्नसार प्रस्तर का सर्वत स्पर्श किया। देखते-देखते रत्नसार जीवित हो उठा।

उपस्थित जनता प्रसन्नता से पुलकित होकर जय-निनाद करने लगी। एक दिन की वात है—राजा विचारगृह मे वैठे हैं, इसी समय सुना कि सिहपुर के राजा सिहशेखर ने विद्रोह-बगावत कर दी है। निरीह पथिको के प्रति वह अत्याचार कर रहा है। राजा ने प्रतिशोध लेने के लिए उसके विरुद्ध अभियान कर दिया।

पथ मे दण्डकारण्य आ गया। राजा ने वहा निवास किया। एक दिन वहा रात्रि मे राजा के कानो मे 'गो-गो' शब्द सुनाई दिया। राजा ने वहा जाकर देखा कि किसी ने एक मनुष्य के हाथ-पैर वाधकर छोड

दिया है। राजा ने उसे वन्धन-मुक्त किया और वन्धन का कारण पूछा। उसने कहा—"मेरा नाम हेममालि है। मैं हेमरथ का पुत्र हू। मेरी पत्नी का नाम हेममाला है। हमारा निवासस्थान हेमपुर है। हेमपुर वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी मे है। एक दिन हम दोनो पति-पत्नी भ्रमण करने के लिए जा रहे थे, इसी समय एक दुष्ट विद्याधर मेरी पत्नी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वलपूर्वक उसका अपहरण कर ले गया और मुझे वाधकर यहा पर फेंक दिया।" राजा ने विद्याधर को सर्वत्र खोजकर उसे पकड लिया और उसे उपयुक्त दण्ड दिया।

हेममालि ने चित्रसेन को दो आश्चर्यजनक वस्तुए दी—पलग और दण्ड। पलग के प्रभाव से राजा उस पर वैठकर आकाश-पथ मे जहा इच्छा हो वहा विचरण कर सकता है और दण्ड के द्वारा शत्रु का वध कर सकता है और जीवनदान भी दे सकता है। रत्नचूड ने भी पहले राजा को एक आश्चर्यजनक गुटिका दी थी जिससे वह अपना रूप परिवर्तित कर सकता है।

चित्रसेन और पद्मावती ने पलग के माध्यम से समस्त तीर्थों की यात्रा की और इसी की सहायता से वे अष्टापद पर्वत पर भी गये जहा भरत ने 'सिंह निषद्या मन्दिर' का निर्माण कराया था। उन्होंने वहा पूजा की और जिनो की स्तुति कर पुन अपने देश लौट आये।

एक वार उन्होने सुना कि दमसार नाम के मुनि आये हैं। वे अपनी पत्नी के साथ धर्मोपदेश सुनने के लिए गये। उपदेश श्रवण कर राजा के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। दोनो जैन श्रवण वन गये। साधना कर यथासमय राजा और रानी मुक्त हो गए।

चित्रसेन और पद्मावती हमारे कलिंग देश के राजा-रानी थे, ऐसा वर्णन है। श्री वृद्धिविजय विरचित 'चित्रसेन-पद्मावती चरित्रम्' मे लिखा है—

"जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, क्षेत्रभरतनामनि।
वसुधातल-विख्यातो, देशो नाम्ना कलिंगक।

धन-धान्य-गृहोदार, गज-गोकुल-सकुलम् ।
तत्रास्ति क्षितिश्रृंगार वसन्तपुर-पत्तनम् ।

जैन भाषा का प्रभाव हमारी उडीसा भाषा पर किस प्रकार पडा है, इसे देखें। हम साधारणतया 'सन्मुख' कहते हैं। सस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सम्मुख' होता है। किन्तु जैन प्रभाव के कारण 'सन्मुख' शब्द किस तरह सस्कृत जैन साहित्य मे भी व्यवहृत हुआ है, देखें। 'चित्रसेन-पद्मावती चरित्रम्' पुस्तक मे श्लोक २६१ दृष्टव्य है।

पुत्रारोहकृते लात्वा, दोष-दुष्ट-तुरङ्गमम् ।
वीरसेनधराधीश-स्तदाष्यति सन्मुखम् ॥

उसी तरह 'सन्मानिता' का व्यवहार भी देखा जाता है'—श्वस्र् सन्मानिता काम, समायाता निज गृहे ।

Buddhivijay's Chitrasen's Padmavati Charitram, edited by Mul Raj Jain (M A U B) published by Jain Vidyabhawan, Krishan Nagar, Lahore, 1942

४

सारला महाभारत

महाशय, मैंने अपने महाभारत से जानुघण्ट विषय मे लिखा है। यह विषय आपकी इस थीसिस मे काम आ सकेगा।

इति

गोपीनाथ महन्ति भुनेश्वर, २५-१-५८ सारला महाभारत (सभापर्व)

(राधारमण प्रेस, महाभारत, पृ० १६४ सहित पुस्तक महाभारत के पृ० ९६ आदि। (जिस पुस्तक मे जैसा) देखने को मिले)

जानुघण्ट सिन्धु और मन्दार दो देशो के राजा थे। द्वापरयुग मे राजा ने सूर्य की पूजा कर उसे प्रसन्न किया। सूर्य ने कहा—"वर माग।" राजा ने कहा—"सत्युग मे एक प्रतापी और धार्मिक राजा हो गये हैं जिनका नाम जानुघण्ट था। मुझे वरदान दो, मैं भी वैसा ही वनू।" सूर्य ने कहा—"तथास्तु।" उसके बाद—

दिनकर वचने से सिन्धु राजार तनु,
से हिं घन्टेक बाधिला तार जानु।
महाछत्ती विद्याकरि ममराज्य करि रक्षा,
जन प्रजा पालि राजा आपणे मागइ भिक्षा।
घण्टराव शब्द करिण करेण स्वपरा धारि,
ससार जन हिते नृपति बुलइ दिगम्बरि।

युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ प्रारम्भ किया। राजा लोग उसमे सम्मिलित हो इसलिए निमन्त्रण देने के लिए पाडव गये थे। अर्जुन सिन्धु मन्दार देश मे पहुचे। इस राज्य मे वे तीस स्थानो मे भ्रमण के वाद आये थे। यमुना नदी के तट पर पहले यह नीलचक्रपुर नगर था। सिन्धु मन्दार देश मे मन्दारिन नाम की नदी ईशान दिशा मे जो शवर पवत है, उससे निकली है, और यहा आकर उसकी तीन धाराए हो गयी हैं। राजा जानुघण्ट ने उसे रोका (वाधा) और कहा—

सिन्धुकु छडाइलइ मोहर वाहुवले,
मन्दर उपाडिले आणि वसाइलि सिन्धुकूले।
सिन्धु-मन्दर दुहित जिणिण मोहर महाराज,
तिनि भुवनकु विकाशु अछि मोहर तेज ॥
परे हत्या न करइ परे नोहि विवादि,
ए द्वापरयुग भोग करु अछि मुहि महाधर्म साधि।
धर्मकु असम मुहि दुर्जन कु अनर्गला
प्राणे कार्य थिलेतु एथु सैन्य घेनिपला।

सारलादास ने कहा है कि जानुघण्ट भारत के छ चक्रवर्तियो में से एक हैं। वे एक प्रतापी राजा थे, यह वात सस्कृत महाभारत मे भी वर्णित है। किन्तु (१) इतने प्रतापी राजा होकर भी वे अपना भोजन भिक्षा माग-माग करते हैं। (२) दिगम्बर होकर विचरण करते हैं। (३) उनका धर्म अहिसा है। (४) वे महाधम की साधना करते है। ये सव वातें उनके जैन होने से ही सभव हो सकती हैं। और यह वर्णन सभव है सारलादास का अपना है। सभवत ये कलिग के कोई जैन राजा थे, जिन्होने समुद्र की भराई कर कुछ जगह वनाई थी।

सारलादास का समय लगभग दसवी शताब्दी है, पन्द्रहवी कभी नही। ये जैन राजा उनके (सारलादास के) वहुत पूव के हैं। कितने हैं, यह ज्ञात नही है।

५

वउला-चरित और रामगाथा

उडीमा का जैन धर्म—इम मम्वन्ध मे आलोचना करते समय वहा के माहित्य मे जहा-जहा जैन धर्म का वर्णन मिलता है उमका वर्णन करना भी ममुचित है। पडित श्री वानाम्वर आचार्य द्वारा मगृहीत और सकलित 'वउला चरित्र और रामगाथा' पुम्तक जिमे कि भूतपूर्व केन्दुझराधीश्वर गजा गोविन्दचन्द्र भजदेव ने लिखा है, उम पुम्तक मे हमे प्राप्त होता है।

तीर्थंकर तीर्थभूमि म्वर्ग मे निर्मल
गोपीमानकर दधिमथन गहल,
वालक वत्मा मानि तहि करु थान्ति गोल।

जैन धर्म का वउला चरित्र उडीमा माहित्य मे तीन म्थानो पर मिलता है। जगन्नाथ और वलगम का वउना अध्याय और तीमरा राजा गोविन्दभज का। इमका नाम वउना चरित है। इमकी मूल कथावम्तु इतिहाम ममुच्चय मम्कृत ग्रन्थ मे ग्रहीत है। गोविन्दभज ने म्वय ऐमा लिखा है।

यथा— इतिहामे वउला व्याघ्र मवाद वाणि
भापारे राजा गोविन्द प्रकाशिले आणि।

केन्दुझर जिला किमी ममय तीर्थंकर की तीर्थभूमि था, उमका

६

नरसिंहपुर मे जैन-निदर्शन

नरसिंहपुर गढ[1] मे जैन निदर्शन है। उसका परिचय श्री चक्रधर महापात्र ने अपने 'गणेश्वर काव्य' मे दिया है।

यथा— जैन बौद्ध समन्वय जेणु,
रचित तो वक्षे अक्षय कीर्ति ।
जैन तीर्थंकर शान्त तपोवने,
न जाणन्ति जीव हिंसा वासना।
जैन तीर्थंकर विचारिले गुम्फा,
तो काले जे काले अति आदरे,
जीवे दया क्षमा सिखाइले एथि
दारिद्रयकु वरि अति कष्ट रे।
मणिप परित आकृति सर वे
देखी छुतु जेणु जैन ओ बौद्ध

---

१ नरसिंहपुर वर्तमान कटक जिले के अन्तगत पूर्व गडजात नरसिंहपुर २०४ वर्ग मील। पुरातत्व एव इतिहास के लिए नरसिंहपुर प्रसिद्ध है। गणेश्वर, बौद्ध, जैन सस्कृति एव शिवक्षेत्र को लेकर एकान्त प्रसिद्ध है। मकर सक्रान्ति के दिन यहा एक विराट् मेला लगता है।

किमन्ते हेलाए महाजीव पशु
विवेक दुआर के कला रुद्ध
बौद्ध जैन कीर्ति विहार गुम्फारे
थिलु तु से काले अति भास्वर।

उडीसा का जैन धर्म नवी और दसवी शताब्दी तक चला था, इसका प्रमाण बाणपुर ताम्रपट से मिलता है। धर्मराज की रानी कल्याणदेवी ने सभवत प्रबुद्धचन्द्र को एक भूमि का दान किया था। ये प्रबुद्धचन्द्र अर्हदाचार्य नासिचन्द्र के शिष्य थे। लिखा है—'एतद् विषय सवन्ध अर्हदाचार्य, नासिचद्र तद् शिष्य एक यात् प्रबुद्धचन्द्र यावत जीवति। बलि चिन्न चरु प्रतोनाय भगवती श्री राज्ञी कल्याणदेवी। आरण विषय सवन्ध। सुवर्ण रत्नोण्टि टिम्बिर स्निनं।' यह दान सभवत प्रबुद्धचन्द्र के जीवनकाल तक उनके उपयोग मे आता रहा है। उनके स्वर्गवास के बाद यह दान किसी ब्राह्मण को प्राप्त होगा।

७

खण्डगिरि और उदयगिरि पर्वत की गुफाएं

जैन धर्म की मान्यता है कि समय-समय इस पृथ्वी पर महापुरुषो का जन्म होता रहा है। कई युगो के पश्चात् समय की गति के साथ-साथ युगल स्त्री-पुरुषो के बीच वाद-विवाद की सृष्टि होने से 'कल्पवृक्षो' ने अपना कार्य बद कर दिया, अर्थात् जीवन-यापन के आवश्यक कोई पदार्थ वे प्रस्तुत नही करते थे। लोगो की इस प्रकार की दुरावस्था देखकर जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का आविर्भाव हुआ था। ऋषभदेव या 'आदिनाथ' ने समस्त प्रकार के कुसस्कारो को दूर कर लोगो को सन्मार्ग और मुक्ति का मार्ग दिखाया। इसीलिए वे जैन धर्म के प्रथम प्रतिष्ठाता होते हैं।

आधुनिक युग मे जैन धर्म की अवस्था के सबध मे लिखते हुए डॉ० राधाकृष्ण पण्डा ने कहा है—"उत्कल मे मुसलमानो का शासन दो सौ वर्षो की (१५६८-१७५१ ई०) लम्बी अवधि तक रहा था। मरहठो ने १७५१-१८०३ ई० तक उत्कल मे शासन किया था। मरहठो के समय मे कई एक जैन लोग राजकर्मचारी के रूप मे उत्कल मे आये थे, ऐसा ज्ञात होता है। उनमे से एक का नाम मञ्जिनाथ था। कटक मे लोगो से सरकारी राजस्व कर (टैक्स) की अदायगी का भार उन पर था। जो लोग यह कार्य करते उन्हे चौधुरी की उपाधि थी। कटक मे जो चौधरी बाजार है, उस बाजार का नाम इसी चौधुरी वश से उत्पन्न हुआ है।

मञ्जिनाथ चौधुरी के वशधरो का ऐसा कहना है कि मञ्जिनाथ दिगम्बर जैन थे। ये नागपुर से आये थे। यहा के जैन किसी पुरोहित के द्वारा अपने विवाह और श्राद्ध क्रिया नही करते है। अपने मे से ही किसी वयस्क और पडित द्वारा ये कार्य सपन्न करते हैं। हिन्दू या ब्राह्मण, जिस तरह कर्ण मन्त्र ग्रहण करते है, उस तरह यहा के जैन नही करते हैं। ये निग्रन्थ गुरु के द्वारा दीक्षा ग्रहण करते हैं।

जैन नवतिलक लगाते हैं। अनेक शास्त्रो के अध्ययन के वाद होम आदि क्रिया करके जनेऊ ग्रहण करते है। मृत व्यक्ति का श्राद्ध तेहरवें दिन करते है। प्रथम श्राद्ध के वाद मृत व्यक्ति का वार्षिक श्राद्ध ये नही करते हैं। जैन केवल निरामिष-भोजी होते हैं। मद्य, मास, मधु, सव प्रकार के कन्दमूल, पाच प्रकार के ऊदम्बर फल एव ग्यारह प्रकार के अन्यान्य अभक्ष्य पदार्थ नही खाते हैं।

माघ शुक्ला सप्तमी के दिन खडगिरि जैन मन्दिर मे विद्यमान तीर्थंकरो को खडखिरि भोग दिया जाता है। दूध, चावल, खाड आदि मिलाकर खडखिरि तैयार की जाती है। किंवदन्ती है कि 'जो लोग माघ शुक्ला सप्तमी के दिन कोणाक के निकट चन्द्र भाग मे स्नान कर, पुरी मे जगन्नाथ का दर्शन करने के वाद खडगिरि मे जाकर वहा पर खडखिरि भोग खाते हैं वे सदेह स्वर्ग प्राप्त करते है।

The Jaina architecture is nothing but a kind of history that it is a standing and living record, and it supplies us a more vivid and lasting picture of a nation than history does.

—Mr Ballabhais Jaina Architecture

Unlike the rock-hewn monuments in western India which were the handiwork of Buddhists, these orissan caves were both excavated and for many years, tenanted, by adherents of the Jaina religion, who have left behind their

unmistakable evidence of their faith, both in the early inscribed record, and in the mediaeval cult states which are found is several of the caves Their number, age and carvings make these caves the most interesting in Eastern India

—Cambridge History of India, Vol. I , pp 638-39

The grouping of buildings or caves in a limited area is another peculiarity of Jain Art

—Nahar and Ghose, 'Epitome of Jainism', p 702

The Jain paintings are not only very important for the students of Jain Iconography, Archaeology, but are of equal or greater interest as being the oldest known Indian paintings on paper

—Notes on the 'Jain art' by Dr Coomarswami

Thought at times in conflict with the Brahmins, the Jains never departed from India as did the Buddhists and even brahmin priests in same parts of India, serve to day in Jain temples

—E W Hopkins 'Religions of India', p 286

The Kanarese literary language and the Tamil and Telegu rest on the foundations laid by the Jain monks

—Buhler, p 22

During the mediaeval period of India Jainism secured much political influence It became the State religion of the Chalukya Princes of Gujarat and Marwar and of the kings of the Coromandal Coast, many jain adherents held offices as Prime Ministers in the courts of Western, Central

and South India and to this time are due the splendid series of Jain temples namely, Mount Abu and Girnar

—The Imperial Gazetteer of India, pp 414-417

On the Mohamedan conquest many of the Jain Shrines were demolished and their carved pillars were utilized for building great mosques, viz Kutub Minar of Delhi, Ajmer and Ahmedabad

—The Imperial Gazetteer of India, pp 414-417

Mahavira Vardhamana went to Kalinga as the king of that country was a friend of his father

—Haribhanja Vritti

Mahavira preached his religion in Kalinga

—Harivansa Purana, R D Banerjee's History of Orissa, Vol I, p 61

That Mahavira Vardhamana preached Jainism in Kalinga is attested by the tradition contained in Jaina literature

—J B O R S, Vol XII, p 223 and Epigraphia, Indica, Vol XX, p 88

खडगिरि और उदयगिरि पर्वत की गुफाए

खडगिरि	उदयगिरि
१ तात्वा गुफा (१)	१ राणी हसपुर
२ तात्वा गुफा (२)	२-३ बाजादार गुफा
३ खोला गुफा	४ छोटी हाथीगुफा
४ तेन्तुलि गुफा	५ अलकापुरी
५ खडगिरि	६ जय-विजय
६ धानवर	७ ठाकुराणी

७ नवमुनि	८ पणस
८ वारभुजा	९ पातालपुरी
९ त्रिशूल	१० मचपुरी
१० भग्नगुफा	११ गणेश गुफा
११ ललाटेन्दु गुफा	१२ धानगड
१२ आकाश गगा	१३ हाथीगुफा
१३ अनन्त गुफा	१४ सर्प
१४ जैन मन्दिर	१५ वाघ
१५ देव सभा	१६ जमेश्वर
	१७ हरिदास
	१८ जगन्नाथ
	१९ रोषेई

जयपुर के नन्दपुर और जैन नगर नामक स्थानो मे अनेक जैन गुफाओ का दर्शन होता है, एव जयपुर के प्राय अधिकाश देव मदिरो मे जैन धर्म की मूर्तिया दूसरे धर्म के देवता के रूप मे पूजित भी होती हैं।

The Jain remains are visible in Jaypore and Nandapur and confirm the idea that once it was a place of Jaina influence The heaps of Jain image and the vast remains of Jains temples clearly indicate that in the days past Nandapur was a centre of Jaina religion

—B Singh Deo's Jeypore in Vizagapatam, p 3

It is worthy of note that even in Hiuentsang's time Kalinga was one of the chief seats of the Jainas

—Beal's Si–yu–ki, Vol II, p 205

The characteristic feature of Jainism is its claim to universality It also declares its object to be to lead

all men to salvation, and to open its arms not only to the noble Aryan, but also to the low-born sudra and even to the alien, deeply despised in India as the Mlechha

—Buhler, p 3

८

उड़ीसा मे जैन धर्म और तत्त्व

जैन हरिवशपुराण मे लिखा है, कि दक्ष के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम आलेय और पुत्री का नाम मनोहारी था। पुत्री बहुत सुन्दर थी। दक्ष स्वय उसके रूप और यौवन पर इतना अस्थिर हो गया है कि अपने को अधिक सम्भाल नही सका। रानी इला इससे अत्यन्त विरक्त हो गई। वह अपने पुत्र आलेय को लेकर दूसरे स्थान मे चली गई। आलेय ने वहा इलावर्धन नगर का निर्माण किया। इलावर्धन का दूसरा नाम दुर्गदेश है। यह दुर्गदेश ताम्रलिप्ति तक फैला हुआ था।

इलापुत्र आलेय ने फिर नर्मदा तट पर माहिष्मती नगर वसाया। अन्त मे उसके वाद आलेय जैन श्रमण वन गया। आलेय के पश्चात कुनीन राजा हुआ। उसने विदर्भ मे कुण्डिनपुर वसाया।

राजा नल इसी कुण्डिनपुर मे गये थे। उन्होने वही पर वस्त्रो को खो दिया अर्थात्—वे दिगम्बर जैन हो गये थे। नल-दमयन्ती उपाख्यान मे यह वात विशेप रूप से ध्यान देने योग्य है, और जैन धर्म नर्मदा तट से किस प्रकार ताम्रलिप्त तक फैला था, यह भी चिन्तनीय है।

हमारे जगन्नाथ मन्दिर की रन्धन (पाक) परम्परा को 'नल पाक' कहते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि, जगन्नाथ मन्दिर पर नल का प्रभाव पडा था। जिस समय वे दिगम्बर जैन हो गए थे एव जगन्नाथ

मन्दिर के साथ उनका सपर्क स्थापित हुआ उसके पश्चात् ही जगन्नाथ मन्दिर की रन्धन प्रणाली को 'नल पाक' कहा गया।

काव्य मे वैचित्र्य दिखाने के लिए ही वस्तुत नल-दमयन्ती का पुनमिलन कराया गया है। खैर, कुछ भी हो, इस गल्प से कम से कम इतना उपलब्ध होता है कि नल ने जैन धर्म ग्रहण किया।

ऋषभ का वाहन वैल है। यही वैल या नर वैल भी महादेव का वाहन है। सभवत यह वैल या नर वैल महादेव का वाहन, फिर ऋपभ का वाहन हुआ हो। इन सव से जाना जाता है कि ऋषभदेव से प्रारम्भ कर जैन धर्म एव महादेव धर्म या शैव धर्म और वाद मे वशिष्ठ नन्दिनी को लेकर विश्वामित्र और वशिष्ठ के बीच घोर विवाद अर्थात् हिन्दू धर्म एव उनके भीतर क्षत्रिय-ब्राह्मण युद्ध इसी तरह चला था। किन्तु इन सव के मूल मे एक स्वतन्त्र विचारधारा के लिए कलह एव क्रमश एक विचार से दूसरा विचार किस प्रकार परिवर्तित होकर आया है, उसका इतिहास प्राप्त होता है।

इस गाय या वैल या नर-वैल को लेकर जैन धर्म से शैव धर्म, शैव धर्म से वैष्णव धर्म की उत्पत्ति अधिक ज्ञात हो रही है। वैल केवल उपलक्षण है। धर्म की भी कल्पना चतुष्पाद गाय के रूप मे की गयी है। यह जैन धर्म और हिन्दू धर्म मे है। सत्युग, त्रेतायुग द्वापरयुग और कलियुग मे धर्म किस तरह चतुष्पाद से क्रमश एक पाद मे और घोर अन्धकार मे आता है और जाता है, उसका तथ्य निहित किया गया है। इसलिए जैन धर्म ही आद्य धर्म है। ऋषभ इसके आदि तीर्थंकर देवता हैं। वृषभ इनका वाहन है, अर्थात् प्रारम्भ से मानव का प्रथम सखा-सहायक होता है—यह गाय-वृपभ।

कलिंग से सिहल मे धर्म-ऋपभदेव गये है। सिहल महावश मे लिखा है कि ऋषभदेव ने फिर मगध मे जाकर उत्कल के इस आदि धर्म का प्रचार किया था।

जैन स्थविरावली मे लिखा है कि एक वूढ़ा हाथी नदी-स्रोत मे पडकर

डूब गया। उसका शव समुद्र मे प्रवाहित हो गया। एक कौआ शव के योनी मार्ग से भीतर प्रविष्ट होकर वही रह गया। जलीय जीव उस शव को खा गये, बाद मे कौआ नितम्ब से वाहर निकलकर उड गया।

इस गल्प के रहस्य को प्रकट करना कठिन है। जैसे नदी-स्रोत मे पडकर नाव वेह जाती है एव अन्त मे विशाल समुद्र मे चली जाती है, वैसे ही उत्कल का उड्डियान तन्त्र देश-विदेश मे प्रचारित हुआ था, इस गल्प के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होता है। महावीर कलिग राजा के मित्र थे, ऐसा वर्णन है। जैन दिवयान मे वर्णन है कि, भरत रामचन्द्र को विदा देकर नदीग्राम मे रह गये। इस नन्दी का अर्थ होता है साड। सभवत वही यह साड पूजक-वश के अन्तर्भुक्त हो गया, अर्थात् जैन धर्म को ग्रहण कर लिया। चण्ड नाम के षण्ड ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी, अर्थात् इसकी ध्वनि यह निकलती है कि, चन्द्रगुप्त नेजैन धर्म ग्रहण किया था। हमारे प्राचीन ग्रन्थोमे पाच प्रसिद्ध वृक्षो का उल्लेख मिलता है, यथा—अशोक, वट, बिल्व, अश्वत्थ एव यात्री। लोग इन पाच वृक्षो की पूजा करते थे। भुवनेश्वर के गर्गवटु या गरावडू ब्राह्मण वट वृक्ष के उपासक हैं। उसी प्रकार महादेव की पूजा करने वाले ब्रह्मण बिल्ववृक्ष के उपासक हैं, और हमारी साधारण कथा मे वट और अश्वत्थ का विवाह है। इसका अभिप्राय ऐसा लगता है, दोनो धर्म सम्प्रदाय कालान्तर मे आपस मे मिल गये थे।

जैन धर्म का प्रतीक अश्वत्थ है एव हिन्दू धर्म का वट। इसके अतिरिक्त दूसरा कल्पवृक्ष भी जैन धर्म का प्रतीक है। खारवेल विल्व के उपासक थे, ऐसा प्रकाश मे आया है। अर्थात् शायद पहले वे शैव थे और वाद मे जैन वने थे। विल्व शब्द खारवेल शब्द मे निहित है।

पूर्णकुम्भ नारी के स्फीत उन्नत वक्ष का चिह्न है। पूर्णकुम्भ का दर्शन करना शुभ माना जाता है। इसी भावना से मागलिक समयो मे हम घरो मे पूर्णकुम्भ या जलपूर्ण कलश रखते हैं। जैन धर्म के उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिनाथ का प्रतीक भी पूर्णकुम्भ है। मल्लिनाथ पहले स्त्री थे और बाद मे पुरुष का रूप धारण कर लिया, ऐसा कहा गया है। हिन्दू पुराण की दृष्टि

से यह बात अर्ध-नारीश्वर के समान है, और ये मल्लिनाथ हमारे सुभद्रा हैं। उनका चिह्न होता है कलश। मारिच की स्त्री कलश की पूजा करती थी, अर्थात् जैन थी।

जैन स्थविरावली मे लिखा है कि जिस तरह जलता हुआ अगारा कीचड मे पडकर धीरे-धीरे शान्त हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की प्रज्वलित कामवासना भी अवस्था की वृद्धि के साथ धीरे-धीरे शान्त होने लग जाती है। किन्तु आग के सम्पर्क से कोयला जैसे पुन अग्निमय हो जाता है वैसे ही युवा नारी का अभिनव स्पर्श पाकर वही मनुष्य-रूपी जीर्ण वृक्ष पुन वसन्तायित हो उठता है।

आदिनाथ ऋषभ का वाहन वृषभ है। यह हमे शिक्षा देता है कि, वृषभ जैसे अनावश्यक अपनी शक्ति का अपचय नही करता है, गाय का समय होने पर ही वह उसके साथ सयुक्त होता है, मनुष्य को वैसे ही उपयुक्त समय मे ही नारी के साथ सयुक्त होना चाहिए, सभी समय मे नही। वैसा न करने पर मनुष्य शीघ्र ही जीर्ण और शक्तिहीन हो जाता है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर पर साप के फण हैं। इससे अनुमान होता है कि सर्प पूजा का प्रतीक है। ये पार्श्वनाथ परशुराम के सदृश हैं। पार्श्व शूर -भट और परशुराम दोनो एक ही बात है। ये होते हैं—हिन्दू श्वेतकेतु और बौद्ध-राहुल। पडित विनायक मिश्र ने भी ऐसा कहा है।

महावीर होते हैं सिंह। राजाओ को केशरी की उपाधि भी इसी से दी जाती है। ये महावीर होते हैं, हनुमान। उड़ीसा मे हम हनुमान को महावीर कहते हैं। ये भी जैन थे। ये अगद राज्य मे थे। बाद मे जिस समय जैन धम चला गया उस समय यह राज्य कोङ्गद नाम से जाना जाने लगा। अर्थात्—क अङ्गद ? अगद कौन ? इससे कोङ्गद हो गया, अर्थात्—जैन-धम उडीसा से चला गया।

विमला ठाकुराणी (देवी) जैन है, उसी प्रकार शीतला भी जगन्नाथ जैन है। भागवत धर्म भी जैन धर्म है।

जैन भगवती सूत्र मे कहा है कि, भगवान महावीर लाढ देश के एक ग्राम से होकर गये थे। वे कुत्ते पालते थे।

पहले ये एक सम्प्रदाय (लोग-समाज, विरादरी के रूप मे) थे।

जैन शास्त्रो मे वर्णन है कि एक वार एक गाय कुछ खा रही थी और कोई आदमी उसे पीट रहा था, ऋषभ ने यह देखा। इस दृश्य को देखकर उनका हृदय करुणार्द्र हो गया। उन्होने पूछा—इसे क्यो मार रहा है? इसके मुह पर छीकी वाध दे। उसने पूछा—मुह पर छीकी कैसे वाधी जाती है, मैं नही जानता। तव ऋषभ ने छीकी तैयार कर उसके मुह पर उन्होने वाध दी। फलस्वरूप गाय कुछ खा नही सकी। छीकी वारह घटे उसके मुह पर रही। किन्तु इस कर्म के फलस्वरूप ऋषभ को भी वारह महीने तक खाने को नही मिला। कर्म का फल भोगना होता है। गल्प से यही सिद्ध होता है।

ऋषभ के समय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्ण थे, ब्राह्मण नही थे। ब्राह्मण वाद के युग की सृष्टि है।[1]

---

१ प्रवन्ध-रचना के लेखक पडित श्री विनायक मिश्र से वहुत सहयोग मिला है। (गणतन्त्र मे प्रकाशित ३० ८ १९५७)

९

जैन कला की विशेष आलोचना

भारतीय सस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास मे जैन कला और सस्कृति का स्थान एक अविच्छिन्न अग है। लिखित पुस्तको को छोड देने पर जितने प्रकार के स्थापत्य और वास्तु-विद्या मे जैन सस्कृति का परिचय मिलता है उसका विश्लेषण करने से जैन धर्म सबधी अनेक तथ्यो की जानकारी प्राप्त होती है। कला एक प्रकार की सार्वजनीन भाषा है जिसके माध्यम से साधारण व्यक्ति धर्म-सबधी अनेक बातो की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस बहुविध कला की रचना या अभिव्यक्ति धार्मिक राजा और सपन्न लोगों की सहायता से ही हुई थी। जैन सस्कृति और दर्शन के सबध मे किसी बात को जानना शायद इतना सहज नही हो सकता है।

भारत के जिन स्थानो मे जैन धर्म परिव्याप्त हुआ था, उनमे विन्ध्य-पर्वत का उत्तर-दक्षिण क्षेत्रो के कुछेक स्थान, सपूर्ण मध्यप्रदेश और उडीसा प्रधान है। आसाम, बर्मा, कश्मीर, नेपाल, भूटान, तिब्बत और कच्छ आदि स्थानो मे जैन सस्कृति के उल्लेखनीय कोई स्मारक नही हैं।

समाज मे धर्म को चिरस्थायी और जन-प्रिय बनाने के लिए शिल्पियो ने जिस प्रकार की भावना से सहयोग किया है, वस्तुत वह सदा चिर-स्मरणीय रहेगा। शिल्पकार अपनी समस्त प्रकार की कला-सृष्टि मे विभिन्न धर्मों की जो अवतारणा कर गये हैं वह इस युग के ऐतिहासिको को

इतिहास-सर्जन मे समस्त सामग्री प्रस्तुत करती है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के रूपायन (चित्रो के अकन की गति) मे एक निर्बाध ऐक्य और रीति का सामजस्य रहा हुआ है कि उनमे से एक को दूसरे से पृथक् करने के लिए प्रारम्भ मे सीमा-रेखा खीचना सहज नही है। सभवत जिन शिल्पियो ने जैन मूर्ति अथवा चैत्यो का निर्माण किया है, उन्होने ही सभवत बौद्ध धर्म की अनेक प्रतिमाओ एव विहारो का निर्माण किया है। कारण, दोनो धर्म परस्पर एक साथ प्रचारित और प्रसारित हुए थे। इसलिए रचित शिल्पकला के भीतर कला की रीति प्राय एक-जैसी ही देखने को मिलती है।

प्रागैतिहासिक सस्कृति-केन्द्रो मे जैन धर्म स्मारक विरल हैं, किन्तु फिर भी मोहनजोदाडो से उपलब्ध ध्यान-लीन नग्न-पुरुषो की मूर्तियो को जैन तीर्थकरो की है, ऐसा कहा जा सकता है। हडप्पा से प्राप्त नग्न-पुरुषो की मूर्ति के साथ शरीर-रचना की दृष्टि से विहार प्रदेश के लोहानीपुर क्षेत्र से प्राप्त नग्न जैन मूर्ति का सामजस्य इतना अधिक रहा हुआ है कि हडप्पा की प्राचीन मूर्ति को जैन कला के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। उक्त विषय से इतना अनुमान किया जा सकता है कि अति प्राचीनकाल से धीरे-धीरे ऐतिहासिक युग मे प्रविष्ट होकर भारतीय कला देश, काल और समसामयिक सामाजिक वातावरण मे नये-नये रूपो मे प्रकाशित हुई है। इन रूपायन (रूप-चित्राकन की गति) के भीतर विभिन्न धर्म और उनके प्रतीक एव पूजित प्रतिमाओ के विविध परिधान, आयुध और वाहन आदि के जो सकेत मिलते है, वे एक अविच्छिन्न एकता का निर्देश देते हैं। जैन और बौद्ध धर्म के समर्थक तत्कालीन धनी और राजकीय वर्ग के निर्देश मे इस कला का सर्जन नही हुआ था। आज हमारे पास विभिन्न धर्मों के कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है।

मौर्य युग मे जिस समग्र जैन स्थापत्य और वास्तुविद्या के रूपायन (चित्रो के अकन की गति) देखने को मिलते हैं उनमे से बिहार के बराकर और नागार्जुन पहाड पर विद्यमान कई एक गुफाओ का उल्लेख किया है।

मौर्य राजा सम्प्रति ने इन गुफाओ का निर्माण कराया था, ऐतिहासिको ने इस बात को प्रमाणित माना है। उनके समय मे कई एक और भी मन्दिरो का निर्माण हुआ है।

सुग युग मे जैनो के कीर्तिमान स्थानो मे उल्लेखनीय उडीसा सब-प्रधान स्थान है। वहा की विद्यमान खडगिरि गुफाए और उदयगिरि गुफाए सर्व-प्रमुख हैं। चेदि-वशज खारवेल का अनुशासन (शिलालेख) यहा पर खुदा हुआ है। ई० पू० प्रथम शतक मे यह अनुशासन अकित किया गया है, इसका प्रमाण यह शिलालेख है। सम्राट् खारवेल नन्दराजा द्वारा अपहृत 'जैन मूर्ति' को मगध पर अधिकार कर पुन उसे लेकर आये थे। राजा स्वय तीर्थंकर और सिद्धो के प्रति अनुरक्त थे। इसलिए उन्होंने और उनकी रानी ने श्रद्धा के साथ श्रमणो के निवास के लिए खडगिरि की गुफाओ का निर्माण कराया था।

इन गुफाओ के निर्माण की रीति चैत्य-निर्माण की रीति से भिन्न है। छोटे चैत्यो मे विद्यमान ये विशाल कक्ष इन मे दृष्टिगत नही होते हैं। हाथीगुफा और मचपुरी गुफा के नीचे की मजिल मे निर्मित की हुई वास्तु-कला दूसरे स्थानो मे निर्मित की हुई स्वल्प विकसित वास्तु-विद्या से कुछ कम अनुन्नत कोटि की होकर भी इसकी स्वतन्त्र गति और रचना की दृष्टि से यह वरहुत वास्तु-कला से अधिक शक्ति (Force) के साथ खोदी गयी है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

ई० पू० प्रथम शताब्दी तक अनन्तगुफा, राणीगुफा और गणेश गुफाओ की वास्तुकला के भीतर जैन धर्म को सूचनाए उल्लेखनीय हैं। अनन्तगुफा मे चार घोडे जुते हुए रथ मे जिस मूर्ति का दर्शन होता है उसे सूर्य-देव की कहा जाता है और (मत्यवृक्ष) पीपलवृक्ष के चारो तरफ किया हुआ घेराव और इसके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी मूर्तिया वुद्ध-जन्म और गजलक्ष्मी के रूप मे जान लेने पर भी यह जैन धर्म की पद्मश्री के रूप मे बाद मे निश्चय किया गया है। वरहुत वास्तुकला-पुञ्ज मे विद्यमान 'शिरिमा' देवता के साथ इसका सामजस्य और एकता है, ऐसा प्रतीत होता है।

जैन कल्पसूत्र मे विद्यमान चौदह स्वप्नो मे यह एक है। द्वारदेश के वृत्तखड पर सर्प-मूर्ति तीन फणो से अलकृत दृष्टिगोचर होती है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कलिंग के साथ वहुत गहरा सबध है। अनेक ग्रन्थो से इसका प्रमाण मिलता है। सभवत इसीलिए उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए प्रतीक के रूप मे शिल्पियो ने सर्प-मूर्ति अकित की है। यह सर्प-मूर्ति और नाग-नागिनी की मूर्ति उत्तरवर्ती काल मे निर्मित अनेक मन्दिरो के सामने के द्वार पर देखने को मिलती है। मार्शल के मत से यह गुफा ई० पू० प्रथम शताब्दी मे निर्मित हुई थी। गुफाओ के निर्माण-स्थापत्य की दृष्टि से इस देश के ये सर्वप्रथम स्थापत्य हैं।

रानी गुफा दूसरी गुफाओ से अधिक प्रशस्त और उन्नत श्रेणी की है। इस गुफा के वृत्तखड के ऊपरी भाग के नौ खभ पर खोदे हुए मडल कला का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है। सिर्फ इतना ही नही है, इसमे गुफा के ऊपरी भाग पर स्वल्प विकसित वास्तुकला के वीच चमत्कारपूर्ण शिकार का दृश्य भी देखने को मिलता है। इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कई एक शिल्प-रसिको ने यह भित्तिचित्र (Foundation) है, ऐसा कहकर पत्थर फेंके है। वस्तुत वर्तमान मे इस स्वल्प स्फीत वास्तु-विद्या के ऊपरी भाग पर जो थोडी लालवर्ण की प्रतिच्छाया थी, वह विलुप्त देखी जाती है। यह लोप उस स्थान मे किस प्रकार से होता है, इसका कोई भी प्रमाण नही मिलता है। उसी दृश्य के भीतर एक पक्ष युक्त मृग और कई एक मृगशावक भी परिलक्षित होते हैं। उन्ही के निकटवर्ती एक वृक्ष पर पत्तो की अपेक्षा कई एक फूल देखने मे आते हैं। सूर्यमुखी कमल के सादृश्य को ग्रहण कर वे उत्कीर्ण हुए हैं। इन कमलो की विशेषता चाहे कुछ भी क्यो न हो, किन्तु इतना असदिग्ध है कि इस प्रकार के फूल इस देश मे थे। अकन की रीति से ये इस युग के सूर्यमुखी फूल हैं। वृक्ष के एक तरफ कोई धनुर्धारी व्यक्ति खडा है और वह शर फेंकने की मुद्रा मे है। उस मूर्ति मे वीरत्व और शौर्य की झलक स्पष्ट है। ये समग्र दृश्य वृत्त खड की दूसरी तरफ मे विस्तृत है। अन्तिम अश मे एक लोमडी लोगो के समागम को देखकर भीत और त्रस्त मुद्रा मे

पीछे की ओर सिंहावलोकन कर रही है। चित्र बहुत उपभोग्य हुआ है।

उत्कल की वास्तुकला के मध्य पशुशाला के जो असख्य चित्र देखने मे आते हैं, उनमे हरिणी और हिरन, हाथी, घोडो की वास्तविक गति और अर्थपूर्ण भगी अत्यन्त मनोमुग्धकारी है। इस दृष्टि से विचार करने पर रूपायन (चित्राकन की गति) ई० सन् के पूर्व अकित होने पर भी उनकी भाव-भगी बहुत सुन्दर ढग से प्रकाशित हुई है। प्राकृतिक वैभव सपन्न उत्कल मे गहन अरण्य, पुष्प फल शोभित तटीय क्षेत्रो के रमणीय दृश्य, नौका-यात्रा के चित्रादि प्रस्तरो के देह पर जिस प्रकार अकित किए हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे यह सूचित होता है कि, कलाकार साक्षात् प्रकृति के सूक्ष्म-दर्शन मे पटु थे और उन्हे प्राकृतिक आनन्द का अनुभव था। इन दृश्यो के भीतर विद्यमान वृक्षादि और एक वृक्ष पर चढी हुई नारी वृक्ष-देह मे पैर लपेटे हुए है। इस दृश्य मे जैन किवदन्ती का क्या सकेत है, वह आज भी विश्लेपण-सापेक्ष है। राजा या शिकारी के पीछे की तरफ अश्व और सारथि का दर्शन होता है। यह शिकारी निवस्त्र नही है। कुछेक समालोचक इसके साथ पार्श्वनाथ का सबध जोडते हैं एव उसके साथ एक उपकथा की सयोजना भी करते हैं। कलिग का कोई यवन शासक कलिग की कन्या प्रभावती का अपहरण कर उसे ले जा रहा था। पार्श्वनाथ ने उस यवन शासक के हाथो से उस नारी की रक्षा कर उसके साथ विवाह किया था। कलाकारो ने प्रस्तर-देह पर इस घटना को खोदा है। यह दृश्य वासवदत्ता या शकुन्तला का है, ऐसा कोई-कोई समालोचक कहते हैं। इस खुदाई मे विद्यमान यवन-सैनिक की ढाल और दूसरो की बनावट स्वतन्त्र है। ग्रीस देश की ढाल के साथ इसके किंचित् सामजस्य होने का अनुमान किया जाता है। और भी बैल पर बैठे हुए व्यक्ति की आकृति की खुदाई असीरिया ढग से हुई है। वह एक भिन्न दूसरे रहस्य को प्रकट करता है। गणेश गुफा, जय-विजय गुफा, अलकापुरी गुफा मे इस प्रकार के अनेक दृश्यो का वर्णन किया गया है। समय के प्रवाह से वे इस तरह क्षत-विक्षत और विनष्ट हो गये हैं कि वर्णित विषय का अच्छी प्रकार से

विश्लेषण करना भी सहज नही है। इनका वास्तविक अर्थ वही व्यक्ति प्रकट कर सकता है, जो जैन धर्म का विशेष विद्वान् हो।

दूसरे एक वृत्तखड पर एक उड्डीयमान व्यक्ति माला ग्रहण कर आता हुआ अकित किया गया है। अजन्ता चित्रो मे जिस तरह यक्षागना और यक्ष झाझ वजाकर शून्य आकाश-मार्ग मे विचरण करते हुए दृष्टिगत होते हैं, वैसे यहा पर नही हैं, किन्तु फिर भी एक पक्ष-युत पुरुप का चित्र दृष्टि-गोचर होता है। पाश्चात्य स्थापत्य और चित्रो मे पक्ष-युक्त शिशु का चित्र प्राय सर्वत्र देखने को मिलता है। इसे एजन्ल कहा जाता है। हमारे यहा इसे 'परी' कहते हैं। वास्तुकला मे इन परियो के अकन करने की रीति का प्रारम्भ कव से हुआ, इस विपय मे कुछ कहा नही जा सकता। फिर भी इस स्थान की विद्यमान वास्तुविद्या के भीतर भी वैसे दृष्टिगत होते हैं। खड-गिरि की जैन गुफाए इसका प्रमाण हैं। इस ूर्ति के निम्न भाग के विशेप अग-निवेश सहित नृत्य-रत एक नारी का रूप अकित किया गया है। यह नर्तकी कोई यवन-कन्या है या जिप्सी कन्या है, यह सन्देहजनक है। इस देश की वास्तुविद्या के भीतर कन्धे के दोनो ओर केशो की दो चोटी रखी हुई नर्तकी का दर्शन नही होता। तव यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार के अभिनव आकार को गति प्रदान करना कैसे सभव हुआ ? इस नर्तकी की मनोमुग्धकारी छटा और चपलता जिप्सी कन्या की छटा के साथ प्राय समानता लिए हुए है। गर्दन और हाथो का विन्यास कला की दृष्टि से परम उपभोग्य वना है।

उसके पीछे की तरफ झाझ अथवा किसी प्रकार के वाद्ययन्त्र को वजाता हुआ एक दूसरा चित्र दृष्टिगत होता है। चित्र का सर्वांगीण विश्लेपण कर इसके वास्तविक अर्थ का निर्णय करना आवश्यक है। लगता है, सम्राट् खारवेल की दिग्विजय के उपलक्ष्य मे जिस प्रकार के नृत्य-समारोह हुए थे, शिल्पियो ने उसे युग-युग तक चिरस्थायी रखने के लिए पत्थरो की देह पर अकित किया है।

पुरी जिले के काकटपुर से उपलब्ध एक नग्न कास्य मूर्ति ने राष्ट्रीय

कला-भवन को सुशोभित किया है, वह जैन कला की पराकाष्ठा का एक दूसरा नमूना है। ऐसी मूर्तियो का निर्माण इस देश मे प्रचलित था, इससे यह प्रमाणित होता है और इसके साथ-साथ इसकी खुदाई मे अलकारो को सजाने की कला कहा तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो सकती है, इसका भी प्रमाण मिलता है।

प्राचीन शिल्पकारो के ऐसे कौशल और अकित करने के पाटव को देखने पर आधुनिक मानव विस्मित हुए विना नही रह सकते। इस मूर्ति के नीचे एक वृषभ की मूर्ति वहुत छोटे आकार मे अकित है।

जैन कला-मन्दिर का वैभव उडीसा के अब तक के अनेक अनुत्खादित स्थानो से प्राप्त होने की आशा की जा सकती है।

—गोपाल कानूनगो

१०

ग्रन्थ-सूची

Abhidhan Chintamani (Kosa) of Hemachandra, Part I-II

Abhidhana Rajendra (Kosa) by Vijaya Rajendra Suri, Vol I-VII

Acharanga Sutra with commentary of Silanka
Agamodaya Samiti, Mahasena 1916

Acharanga Sutra—Translated by H Jacobi, Sacred Books of the East, Vol XXII.

Avasyaka Vritti of Haribhadra Suri

Bhagavati Sutra with commentary of Abhayadeva Suri, 3 Vols

Brhatkatha (Kosa) of Harisena—Edited by A N Upadhye

Harivamsa of Jinasena, 2 Vols —Edited by Pandit Darbarilal

Jambudvipaprajnapti Sutra with commentary of Santichanda, 2 Vols

Jina Samhita of Indranandi

Mahapurana (Adipurana) of Jinasena, Vols I-II

Pravachana Saroddhara of Nemichandra
Mahabharata with commentary of Nilakantha
Rigveda Samhita—Edited by Max Muller
Rigveda Samhita—Edited by Vaidika Samsodhana Mandal
The Wonder that was India—Bhasham
Archaeological Survey of India—Vols VIII-XIII
Ethnology of Bengal—Colonel Dalton
Mahavira His Life and Teachings—Dr B C Law
Vaisali in Indian History and Culture—
Dr R K Mukherjee
Jaina Tirthankar in India and their Architecture—
Sarabhai N Nawab
Gazetteer, Singbhum, Saraikella and Kharswan, Puri
—O Malley
The Age of Imperial Unity The Classical Age
Bharatiya Vidya Bhawan Series, Vol III
Jainism in Northen India—C J Saha
Ancient India and Indian Civilisation—
Stem, Masson, Oursel, Grabowsk
Philosophies of India—Heinrich Zimmer
Evolution of Religion, 2 vols —E Caird
The Nativity Scene of a Jaina Relief from—
Mathura Jaina Antiquary, Arrah, Vol X—
V S Agrawala
Vasavdatta and Shakuntala Scenes in the Ranigumpha

Cave ın Orıssa—I I S O Art XIV—
V S Agrawala
Age of the Imperıal Guptas—R D Banerjee
Hıstory of Orıssa, 2 vols—R D Banerjee
Hıstory of Orıssa (ın Orıya)—Dr H K Mahatab
A Hıstory of Orıssa, Vol II—Edıted by Dr N K Sahu
Old Brahmı Inscrıptıons ın the Udaıgırı and Khandagırı caves —Dr B M Barua
Hathıgumpha Inscııptıons of Kharavela I, II & XI
Jaına Iconography—Indıan Antıquary, Vol XI
Indıan Archıtecture, Vol I—Percy Brown
Medıaeval Indıan Sculptures ın Brıtısh Museums—
R P Chanda
Jaına Sahıtyana Sankshıpta Itıhasa (Gujratı)—
Bombay, 1933
Cave Temples of Indıa—Fergusson and Burgess
The Bırth of Cıvılısatıon ın the Near East—
Henry Frankgort
Orıssa and her Remaıns—M M Ganguli
Indıan Sculpture—Stella Kramrısch
A Lıst of Brahmı Inscrıptıons from tıme early to about
A D 400, E I Vol X
Antıquıtıes of Orıssa—R L Mıtra
The Vedıc Age—Bharatıya Vıdya Bhawan
Premi Abhınandan Grantha (M Bharat)
The Manchapurı Cave, I H Q XXVII—
T N Ramachandran

Yaksha Worship in Early Jaina Literature—
Journal of the Oriental Institute, Vol III, No 1
History of Fine Art in India and Ceylon—V A Smith
Cambridge History of India, Vol I
Bengal District Gazetteer, Puri and Balasore
Archaeolgical Survey of Mayurbhanj—N N Vasu
Political History of Ancient India—
Dr H C Ray Chaudhury
Early History of Deccan—R G Bhandarkar
Imperial Gazetteer of India, Vol II
Lectures on the Origin and Growth of Religion—
T W Rhys Davids
Proceedings of the Convention of Religions in India—
S N Sen
Jainism in Bihar—P C Rai Chaudhury
Studies in Jaina Art—U P Shah
Chitrasena Padmavati Kalpa
Prachin Jaina Smarak (Hindi)—
Brahmachari Sitalprasad
(1) Madras & Mysore,
(2) Bengal, Bihar & Orissa
वउला चरित और रामगाथा—राजा गोविन्दचद्र भन्जदेव
भगवान गुणभद्राचार्य प्रणीत महापुराण (सस्कृत और हिन्दी अनुवाद)